कबीर-वचनामृत

[साखी-भाग]

—मुन्शीराम शर्मा

एम०ए०, पी-एच०डी०

कबीर-वचनामृत

[साखी भाग]

सम्पादक

डा० मुन्शीराम शर्मा, एम० ए० पी-यच० डी०

अध्यक्ष हिंदी-विभाग

डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

[द्वितीय संस्करण, सं० २०१२]

प्रकाशक :—
आचार्य शुक्ल साधना-सदन
१६/४४ पटकापुर, कानपुर

मूल्य ३॥)

मुद्रक :—
साधना प्रेस,
बगिया मनीराम, कानपुर।

समर्पण

सरलता की मूर्ति, ज्ञान के निधान,
सदाचार के धनी, अवकाश-प्राप्त अध्यापक–रत्न
महात्मा जयन्तीसहाय जी, बी०ए०, एल०टी०, विशारद
को
जिन्होंने मेरे जैसे अनेक विद्यार्थियों को मातृभाषा
(और अब राष्ट्रभाषा) हिन्दी के प्रति आकर्षित
और अपने क्रियात्मक जीवन से
प्रभावित किया ।

विषय-सूची

भूमिका

साखी—कबीर की वाणी का संग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, सबद और साखी। डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर-ग्रंथावली साखी, पद और रमैनी—ये तीन विभाजन लेकर चलती है। 'रमैनी' दोहे और चौपाइयों में हैं, 'सबद' गीतों (पदों) में और 'साखी' दोहा शैली में है। सं० १५६१ की प्रति में जो कबीर के शिष्य मलूकदास की संग्रहीत बताई जाती है, साखियों की संख्या ८१० लिखी है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने सं० १५६१ के पश्चात् सं० १५७५ में कबीर की निधन-तिथि मान कर मलूकदास का संग्रह अपूर्ण बताया है, क्योंकि यह प्रति चौदह वर्ष पहले की लिखी हुई है। 'इति श्री कबीर जी की वाणी संपूरण समाप्त'—केवल इस वाक्य से ही कबीर--वाणी और उनके जीवन की सीमा निश्चित की जा सकती है, क्योंकि स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास जी इस प्रति को प्रामाणिक मानते हैं। 'संपूरण समाप्त' का यदि यह अर्थ माना जाय कि १५६१ सं० तक ही समस्त कबीर-वाणी का संग्रह है, तो यह उचित नहीं जान पड़ता। कबीर की मृत्यु-तिथि इतिहास के अंधकार में है। परन्तु कबीर का जन्म संवत १४५५ मानकर मृत्यु संवत १५७५ मानना यदि असंगत नहीं, तो संगत भी न होगा। यद्यपि १२० वर्ष का जीवन असम्भव नहीं है, फिर भी 'सम्पूर्ण समाप्त' का अर्थ कबीर की मृत्यु तक समस्त वाणी का संग्रह मानना ही अधिक युक्ति संगत है। इस प्रकार कबीर की साखियों की प्रामाणिक संख्या ८१० ही ठहरती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कबीर ग्रन्थावली में केवल एक साखी के अतिरिक्त सभी साखियों का संग्रह है। कबीर ने अपने जीवन में साखियों के रूप में न जाने कितने सहस्र उपदेश और अनुभूतियां का उल्लेख किया होगा; पर इसका कोई विवरण प्राप्त नहीं है। मलूकदास कबीर की जितनी साखियों को एकत्र कर सके होंगे, एकत्र की होंगी। सं० १८८१ के एक अन्य कबीर-वाणी संग्रह में १३१ दोहे या साखियाँ मलूकदास की प्रति से अधिक हैं। ग्रन्थावली के परिशिष्ट में १९२ अन्य साखियों का संग्रह है, जो श्री गुरु ग्रन्थ साहिब से उद्धृत की गई हैं। उन साखियों को छोड़ कर केवल ८१९ साखियों को दृष्टि में रख कर इस आलोचनात्मक भूमिका की रचना हुई है। कबीर ग्रन्थावली में साखियों के अन्त में संख्या ८०९ लिखी है, जो अशुद्ध है। १७० संख्या के पश्चात् ८ दोहे दिये हैं, पर संख्या १६८ लिखी

है, जो १७८ होनी चाहिये। यह अशुद्धि अन्त तक चली गई है। यह तो साखियों की संख्या के विषय की बात हुई। अब साखियों के विभाजन का प्रश्न है।

साखियों का विभाजन अंगों में है। अंगों का अर्थ है—प्रकरण या अध्याय। सं० १५६१ की प्रति में ६९ अंगों का उल्लेख है। ग्रन्थावली में ५९ अंग हैं। अन्य दस अंगों की साखियाँ ५९ अंगों में समाविष्ट हो गईं, या यह ६९ की संख्या अशुद्ध है, इसका कोई उल्लेख डा० श्यामसुन्दर दास जी ने नहीं किया। इन ५९ अंगों में साखियों का वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। जैसे एक 'उपदेश कौ अंग' है। उपदेश का एक अंग रखना, जब कि समस्त साखियाँ उपदेशों से भरी हैं, उचित नहीं। इसी प्रकार अंगों में एक निर्दिष्ट विषय के अतिरिक्त दूसरे अंगों के विषय की साखियाँ मिलती हैं। सम्भवतः मलूकदास ने अत्यन्त श्रम और श्रद्धापूर्वक कबीर-वाणी का संग्रह कर इस साधारण प्रश्न को महत्व न दिया होगा। यद्यपि प्रस्तुत भाष्य कबीर ग्रन्थावली के विभाजन को लेकर चला है, परन्तु तो भी विभाजन की अपूर्णता का अनुभव अवश्य होता है।

साखियों के विषय—साखियों में आध्यात्मिक और नैतिक विषयों का वर्णन है। कबीर ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मा, परमात्मा, अनात्मा और साधना का तथा नैतिक दृष्टिकोण से साधना के अन्तर्गत सरल और ज्ञानमय जीवन-यापन करने का उपदेश दिया है। इस भूमिका में इन्हीं विषयों की व्याख्या और आलोचना है। प्रश्न उठता है कि क्या ये विषय काव्य या शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत हैं? आचार्य शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियों की रचनाओं को ज्योतिष और आयुर्वेद की कोटि में मान कर, उन्हें साम्प्रदायिक शिक्षामात्र ही बताया है, जिनका जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से सम्बन्ध नहीं है। शुक्ल जी ने साखियों को भी साम्प्रदायिक शिक्षा ही बताया है। यह निश्चय है कि कवि किसी प्रेरणा से ही काव्य का सृजन करता है। साखियों में परमात्मा की भक्ति या प्रेम ही मूलतः पाया जाता है, जिसके आधार पर सदाचारी और बुद्धिवादी समाज की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। प्रेम के प्रसंग को लेकर जिन पद्यों की रचना हुई है, उन्हें काव्य के अन्तर्गत मानना युक्ति-संगत ही होगा। काव्य के तीन प्रमुख अंग—विचार, भाव और कल्पना में से साखियों में कल्पना तो अंशमात्र है; परन्तु विचार और भाव की गंगा-यमुना के संगम की पवित्रता उसमें मिलती अवश्य है। कबीर की साखियाँ नैतिकता के दृष्टिकोण से अत्यन्त उच्चस्तर की हैं। यही कारण है कि हिन्दी का संत-साहित्य जिसमें कबीर की रचना प्रमुख है, विश्व में बेजोड़ है।

कबीर की विचारधारा और भावधारा में कल्पना की लघु नौका जिन थपेड़ों और कभी-कभी मृदु लहरों से स्पन्दित होती था, उनका उद्घाटन साखियों में है। इनमें कहीं विनम्रता है, कहीं कठोरता; कहीं संयोग है, कहीं विरह; और कहीं अद्वैत है, तो कहीं द्वैत। अद्वैत दार्शनिक पक्ष को लेकर है, तो द्वैत भक्ति को लेकर। साखियाँ ग्रन्थ रूप में कबीर के शिष्यों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। कबीर-वाणी से जिस अमृतधार का स्यन्दन होता था, वह विभिन्न परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित हुई होगी—ऐसा कुछ मतिमान पुरुषों का मत है। उनकी सम्मति में सन्त कबीर के पास दुखी और जिज्ञासु मनुष्य दुख को दूर करने और ज्ञान-पिपासा शांत करने आते होंगे और वे प्रत्येक मनुष्य की परिस्थितियों के अनुसार उसे उपदेश देकर कृतार्थ करते होंगे। यही कारण है कि कबीर की साखियों में कहीं-कहीं परस्पर विरोधात्मक विभिन्न सिद्धान्तों और विचारों का समावेश मिलता है, पर हमारी समझ में इसका अर्थ यह नहीं है कि कबीर रंग बदला करते थे। वास्तव में अधिकारी-भेद के अनुसार ही संतजन उपदेश देते हैं। दीर्घ जीवन में न जाने कितनी समस्यायें सुलझाने में कबीर को अपने अनुभवों में घटा-बढ़ी करनी पड़ी हो? कबीर तो सत्य की खोज में व्यस्त थे। उन्होंने हठयोग को छोड़ कर सहजयोग को अपनाया। अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत को छोड़ कर द्वैत-अद्वैत से विलक्षण समत्ववाद को स्वीकार किया। यद्यपि उसका कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है, फिर भी अन्तः साक्ष्य के आधार पर विभिन्न बातों को प्रामाणिक ठहराया जा सकता है।

साखियों की प्रामाणिकता—कबीर की वाणी में साखी सर्वाधिक प्रामाणिक है; आचार्य हजारीप्रसादजी ने भी इसे स्वीकार किया है। कबीर के सिद्धान्तों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखी ही है।

"साखी आंखी ज्ञान की, समुझ देख मन मांहि।
बिन साखी संसार में, झगरा छूटत नाहिं॥"

स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी ने साहित्य के इतिहास में यह स्पष्ट किया है कि साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश मुख्यतः साखी के भीतर हैं। उनका यह कथन किसी पूर्व निश्चित धारणा के आधार पर है। उनकी सम्मति में कबीर ने किसी से ज्ञान और किसी से प्रेम-उधार माँग कर एक नया सम्प्रदाय या पन्थ खड़ा कर दिया है। पर वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। वास्तव में

दूसरी ओर इस्लाम से अप्रभावित थे, तो उनकी विचार-धारा या सिद्धान्त का मूल उद्गम क्या है ? यह सत्य है कि कबीर ने ब्रह्म-विद्या का ग्रहण उपनिषदों या अन्य वैदिक ग्रन्थों से प्रत्यक्ष रूप में नहीं किया, परन्तु उनके आध्यात्मिक विचार या आत्मा, ब्रह्म और माया का विवेचन अधिकांश में वेदान्त शास्त्र के अनुसार है ।

कबीर की साखियों में संग्रहीत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण निम्न प्रकार से हो सकता है—

आध्यात्मिक दृष्टि से जगत की सभी वस्तुयें दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं :—(अ) नित्य तत्व—(१) आत्मा (२) परमात्मा ।

(आ) नाम रूप—अनात्मा

सुविधा के लिये इनके सम्बन्ध में हम निम्नांकित चार विचार उपस्थित कर सकते हैं—

१—आत्मा सम्बन्धी विचार—साधक ।

२—परमात्मा सम्बन्धी विचार—साध्य ।

३—अनात्मा सम्बन्धी विचार—बाधायें ।

४—आत्म पथ सम्बन्धी विचार—साधना ।

आत्मा सम्बंधी विचार:—चेतना पुंज के स्फुलिंग का नाम है जीवन । चेतना का अर्थ है जड़देह में दृष्टिगोचर होने वाली प्राणी की हलचल या चेष्टा । यह हलचल या चेष्टा आत्मा के कारण प्रादुर्भूत होती है । चेतना आत्मा का लक्षण है, जो शारीरिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट होता है । इसका प्रवर्तक शरीर से भिन्न, स्वतन्त्र और परे है। सांख्य में यही पुरुष है और वेदान्त में यही आत्मा है ।

आत्मा के शुद्ध चेतन या निरुपाधिक आत्मा के एक रस तथा एक रूप होने के कारण उसमें स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता सम्भव ही नहीं । वह अजन्मा, अकर्ता और निर्लेप है । फिर भी आत्मा को सोपाधिक मानकर कबीर उसमें बुद्धि आदि उपाधि के रूप से भेद की कल्पना करते हैं और आत्मा से आत्मा (विश्वात्मा) को जानने का प्रयत्न करते हैं ।

कबीर की साखियों में आत्मा के बोधक शब्दों के तीन रूप हैं:—

१—मानव २—अन्य जीव तथा ३—वस्तु ।

मानव रूप दो प्रकार के हैं :—(१) स्त्री रूप, (२) पुरुष रूप ।

स्त्री रूप—

विशिष्टाद्वैत के अनुसार जो सम्बन्ध रश्मि और प्रकाश में है, ज्योत्स्ना और चन्द्र में है तथा प्रभा और सूर्य में है, वही सम्बन्ध आत्मा स्त्री और परमात्मा (पुरुष) में है। निरुपाधिक आत्मा में जो प्रकृति (माया) का प्रगाढ़ आलिंगन है, वही स्त्री रूप सोपाधिक आत्मा है। शुद्ध चेतन के परिचय के पूर्व और पश्चात् जिन प्रमुख अन्तर्दशाओं का होना सम्भव है, उनका निरूपण कबीर की साखियों में है। कबीर ने स्त्री-रूपिणी आत्मा के चार भेद किये है :—

१—कुमारी कन्या २—सुन्दरी (विवाहिता),
३—विरहिणी, ४—सती।

१—कुमारी कन्या—जब तक प्रिय ब्रह्म से परिचय नहीं होता, आत्मा (अपरिचित) कुमारी ही रहती है, क्योंकि उसका पति तो ब्रह्म ही है। जब उमंगों से भरी उस नारी का पाणिग्रहण होता है, तब एक तड़पन, एक छटपटाहट और एक अधीरता से वह आक्रान्त हो जाती है।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्या कुवांरी जांणि।
हथ लेवा हौंसे लिया, मुसकल पड़ी पिछांणि॥

२—विवाहिता सुन्दरी—इस अवस्था का वर्णन 'परचा कौ अंग' 'निहकर्मी पतिब्रता कौ अंग' और 'सुन्दरी कौ अंग' में है। परिचय में मिलन के पहिले संकोच की सिहरन, मिलन स्थान और मिलन का वर्णन है :—

(१) संकोच—(जिसे कबीर की आत्मा खोज रही थी, वह मिल ही गया है। परन्तु हृदय में तीव्र धड़कन थी, संकोच की सिहरन थी। प्रिय (शुद्धचेतन) का उजलापन और प्रेयसि की मलिनता! इस अनुभव से एक झिझक वैसी ही उत्पन्न होती है, जैसी सूर्योदय में दीप की अपने में लुकती-छिपती सी आभा या सागर से मिलने पर नदी की स्तब्धता।)

"जा कारिणि मैं ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ॥"

प्रेयसी आत्मा के मन में विश्वास नहीं है कि वह प्रिय प्रभु उसे अपना भी सकेगा। यह जर्जर काया, फिर रास-रंग से अनभिज्ञ ! क्या होगा ? प्रिय से वह कैसे मिलेगी ?

मन प्रतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
का जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग ॥

(२) मिलनस्थान—जिसे दूसरा समझ कर संसार तीर्थाटन को चला, वह प्रियतम तो अपना ही है और अपने समीप ही है :—

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥

(३) मिलन—प्रिय से साक्षात्कार हुआ। परन्तु यह साक्षात्कार वर्णन का विषय नहीं है, क्योंकि प्रिय तो अनिर्वचनीय है, वर्णन के परे है, तीव्र तेज-पुंज है और निकट से निकट है :—

कबीर देख्या एक अँग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनूं रहा समाइ ॥

नेत्रों में कौतूहल सा समा गया। उसका तेज ऐसा था मानों अनेक सूर्यों की सेना उदय हुई हो :—

"कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥

जाग्रत आत्मा ही उस अनन्त प्रकाश का अनुभव करती है, प्रमादी पुरुष के लिए तो सर्वत्र अंधकार ही है।

कबीर ने पतिव्रता स्त्री के समान आत्मा की एकनिष्ठता, एकाधिकार और आत्मसमर्पण की भावना का भी वर्णन किया है। वे कहते हैं:—"प्रेम तो केवल प्रियतम से है, जो बहुत गुणवाला है। यदि अन्य किसी से रास-रंग रचाऊँ तो मुख पर स्याही फेर देना।"—

"कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँस बोलौं और सौं, तौ नील रँगाऊँ दंत ॥

कबीर का ब्रह्म के प्रति प्रेम हिन्दू पातिव्रत धर्म को धारण करने वाली नारी की प्रीति के समान है। वे किसी अन्य धर्म या दर्शन के सिद्धान्त पर विश्वास करके प्रियतम के प्यार को नहीं भूल सकते।

३—विरहिणी—

कबीर सूता क्या करे, क़ाहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुड़्या, ताही के सङ्ग लागि॥

आत्मा और परमात्मा एक साथ थे, सयुजा और सखा थे। सोपाधिक होने के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुड़ गई। यह वियोग मानों आत्मा की सुप्तावस्था है। जब जागरण होता है, तब आत्मा का पुनः परमात्मा से परिचय होता है और वह उसकी प्राप्ति के लिये छटपटा उठती है। उसकी रात्रि-घटिकायें रोदन और दुख में परिणत हो जाती हैं। इसी तथ्य का विरह के अंग में मर्मस्पर्शी वर्णन है :—

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजाण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं पराण॥

४—सती—

राम नाम सबको कहै, कहिबे बहुत विचार।
सोई राम सती कहै, सोई कौतिग हार॥

विह्वल आत्मा का ही एक गुण है सतीत्व! सती का हृदय प्रिय के साथ जल मरने को, सती होने को, मचल पड़ता है।

विरहिणि थी तौ क्यूँ रही, जली न पिव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि॥

प्रिय का बिछोह असहनीय होता है। आत्मा का यही प्रण रहता है कि वह सती हो जाय। मरने से उसे डर ही क्या है?

सती बिचारी सत किया, काँटौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिय आपणा, चहुँ दिस अगिन लगाइ॥

मनुष्य के इस अनुभव ने कि वह किसी व्यापक चेतना का अंश है, पुरुष और स्त्री के आध्यात्मिक सम्बन्ध को जन्म दिया है। मध्ययुगीन समाजगत नियम के अनुसार स्त्री पुरुष की प्रेम-भिक्षा पाने और उसके चरणों में समस्त भावनाओं को समर्पित करने को लालायित रहती थी। दर्शन में यह रूपक सब प्रकार से समर्थ परमात्मा को पुरुष और उसके आश्रित जगत को स्त्री या उसका प्रकृति स्वरूप मान कर प्रचलित हुआ। इसी कारण कबीर ने कई स्थानों पर अपने को राम की दुलहिन कहा है। उनकी इस भावुक विचारधारा के मूल में वैष्णवों का माधुर्य भाव है, सूफियों का माधुर्य भाव नहीं। वैष्णवों ने स्वकीया के स्थान पर परकीया को भी महत्व दिया है। परन्तु कबीर केवल स्वकीया-रूप लेकर चले और आध्यात्मिक विवाह का रास-रंग रच डाला।

पुरुष रूप—आचार्य श्री रामानुज ने जीव-ब्रह्म के इस प्रकार के संबन्ध निरूपित किये हैं—शेष और शेषी, अवतार और अवतारी, अंश और अंशी, नियम्य और नियामक तथा पुत्र और पिता। कबीर ने भी आत्मा को पुरुष का रूपक देकर दो प्रकार के सम्बंधों की सृष्टि की है—

(१) रागात्मक संबन्ध (२) साधारण सम्बन्ध

(१) रागात्मक सम्बन्ध :—पुत्र और योगी दो रूपों में प्रकट हुआ है।

पुत्र—

पूत पियारो पिता कौं, गोहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ॥

वात्सल्य की यह भावना मनुष्य की सरल और निष्कपट वृत्ति का परिणाम है। ऋग्वेद और ईसाई धर्म में भी यह पितृत्व भावना है, परंतु कबीर ने इस भावना को वैष्णव विचारधारा से ग्रहण किया है। ऊपर के उद्धरण में प्यारा पुत्र (आत्मा) पिता (परमात्मा) से विमुख होकर संसार के मोह में भूल गया है। निम्न साखी में आत्मा रूप बालक के संसार से रोष और रुदन का चित्रण है :—

डारी खाँड पटकि करि, अन्तरि रोष उपाइ।
रोवत रोवत मिल गया, पिता पियारे जाइ॥

योगी—

झल उठी झोली जली, खपरा फूटिम फूट ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूत ॥

यहाँ संयोग के लिये आतुर आत्मा को योगी मान कर उसे समाधिस्थ कर दिया है ।

(२) साधारण संबंध सवार, लुहार, और जौहरी तीन प्रकार का है ।

सवार—

प्रेम के अश्व पर चढ़ कर और ज्ञान का शस्त्र लेकर जीवात्मा संसार की विषय-वासनाओं से जूझता है । कबीर ने चेतना या आत्मा को सवार मान कर बड़ा सुन्दर रूपक बाँधा है—

"कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥

इसी प्रकार—

कबीर तुरी पलाणियां, चाबुक लीया हाथि ।
दिवस थकां साईं मिलौं, पीछे पड़ि है राति ॥

यहाँ मन घोड़ा है और विचार, विवेक या संयम चाबुक है । इसी से मिलता-जुलता रूपक कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तीसरी वल्ली में है —

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धितु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच ॥ इंद्रियाणि हयानाहुः
इसमें इन्द्रियों को अश्व और आत्मा को रथी कहा गया है ।

लुहार—

धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार ।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥

यहाँ धौंकनी शरीर है और जीवन अंगार है । आत्मा को कबीर ने लुहार का रूपक दिया है, जो इन सब से परे है ।

अनीश्वरवादी बौद्ध मत के दीप-निर्वाण की भाँति आत्मा के निर्वाण होने का विश्वास भी कबीर प्रकट करते हैं। कबीर ने इस तरह के दृष्टान्त का साखियों में उपयोग किया है —

''कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥

(लोकायत सिद्धान्त में आत्मा की अनित्यता के प्रतिपादन में ऐसे ही दृष्टान्त का प्रयोग होता है)

ज्योति—विचार के अंग में आत्मा को ज्योति माना है, जिसे जगत के कर्त्ता ने स्थापित किया है:—

''कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नाना वांणी बोलिया, जोति धरी करतारि॥

जल रूप में आत्मा की दो प्रकार की कल्पना की गई है:— बूँद और हिम

बूँद—

हेरत हेरत हे सखी, रहया कबीर हेराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्‌या जाइ॥

हिम— चेतना रूपी जल की तरलता जब घनीभूत होकर हिम रूप आत्मा के रुप से विभूषित होती है, तब उसका अस्तित्व विलग प्रतीत होता है। परन्तु हिम रूपी आत्मा ओझल होने पर भी उसी चेतना-सागर की प्रवाह-शीलता को स्थिर रखती है।

पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥

कबीर ने आत्मा को अमूल्य चिन्तामणि और पारस तथा कहीं-कहीं पर शंख और सीप कह कर भी उसका महत्व प्रकट किया है:—

चिन्तामणि—कठोपनिषद के भाष्य में आत्मा की दुर्विज्ञता को स्पष्ट करते हुये श्री शंकराचार्य का कथन है:—

स्थित-गति नित्या नित्यादि विरुद्धानेक धर्मोपाधिकत्वाद्वि रुद्धधर्मवत्वा द्विश्वरूप इव चिन्तामणि वदव भासते ।

(१ अध्याय, २ बल्ली)

'स्थिति गति तथा नित्य और अनित्य आदि अनेक विरुद्ध धर्म रूप उपाधि वाला तथा विपरीत धर्म युक्त होने से यह चिन्तामणि के समान विश्वरूप-सा भासता है। कबीर लिखते हैं:—

"चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि ।
मीरां मुझसूं मिहरि करि इब, मिलौं न काहू साथि ।।

पारस—आत्मा रूपी पारस माया में अभेद दर्शन करके धोखा खाता है:—

कबीर सुपनें रैंनि कै, पारस जीय मैं छेक ।
जे सोऊँ तौ दोउ जंणा, जे जागूं तौ एक ।।

कठोपनिषद का भाष्य करते हुए शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं कि (आत्मा अब्जा अप्सु शंख शुक्ति-मकरादिरूपेण जायत इति)। आत्मा अप-जल में शंख, सीपी और मकर इत्यादि रूपों में उत्पन्न होता है, इसलिये अब्जा है।

शंख—कबीर आत्मा को शंख मान कर अन्योक्ति का सुन्दर निर्वाह करते हैं। चेतना सागर से बिछुड़ कर आत्मा माया के रेतीले क्षेत्र में अज्ञान की रात्रि में ज्ञान के सूर्योदय की प्रतीक्षा करती है:—

रैणाँ दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ।।

सीप:—

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास ।
समदहि तिणका करि गिणै, स्वाति बूँद की आस ।।

संसार की माया को तृणवत समझ, अपने को खोजने में रत आत्मा केवल स्वाति बूँद या ब्रह्म की अनुभूति की ही आकांक्षा करती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्कार ने भी आत्मा को विविध रूप धारण करने वाला कहा है:—

त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि, त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार या कुमारी है । तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है, तथा तू ही उत्पन्न होने पर अनेक रुप हो जाता है ।

परमात्मा

कबीर के काव्य का केन्द्र एक ईश्वर ही है । वह कबीर से परे नहीं, प्रत्युत उसके रोम-रोम में रमा हुआ है । उस अभिन्न के परिचय में कबीर ने अनुभूति का आश्रय लेकर मधुर सम्बंधों को सृष्टि की । इसी कारण साखियों में एकेश्वरवाद, अद्वैत और द्वैत भाव का संयोग परिलक्षित होता है । स्वर्गीय पं० रामचद्र शुक्ल के अनुसार तो निर्गुण पथ के कवियों में कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है ; तथा उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप कर के वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता ही प्रकट करना है ।' पर उनका यह मत सर्व मान्य नहीं है यह सत्य है कि सभी दार्शनिक संत नहीं होते, पर सन्त अवश्य दर्शनिक होता है । कबीर की साखियों में दार्शनिक व्यवस्था स्पष्ट है, जो कहीं बँधी परिपाटी के रूप में है, और कहीं मौलिक विचारधारा के रूप में। वर्गीकरण तो स्थूल होता है ।

यद्यपि कबीर निर्गुण के गुण गाते हैं, तथापि उनकी अनुभूति उन्हें सूफी, वैष्णव और सगुण विचार धारा के समीप खींच लाती है । उनका निर्गुणवाद अनेक वादों को अपने गर्भ में निहित किये है । एकेश्वरवाद, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, सूफी आदि सब मत उस एक ही का विविध रूपों में वर्णन करते हैं । ऋग्वेद के अनुसार 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—उस एक प्रभु का विद्वानों ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है ।

एकेश्वरवाद—बहुदेववाद के विरुद्ध यह मत केवल एक निराकार ईश्वर की सत्ता को मानता है । परमात्मा एक नियन्ता या शासक रूप में जीवात्मा से पृथक है,यह मत इस्लाम के इस सिद्धांत से सर्वथा भिन्न है कि अल्लाह एक है और मोहम्मद उसका रसूल है । इसके अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा के बीच कोई पैगम्बर है, यह पैगम्बर उस एक महान प्रभु से आत्मा को सांसारिक पापों से क्षमा दिलाता है, कबीर की साखियों में इस्लामी एकेश्वरवाद की यह भावना

भी नहीं मिलती। शुक्ल जी ने साहित्य के इतिहास में कबीर आदि संतों के सामान्य भक्ति मार्ग को एकेश्वरवाद के अनिश्चित स्वरूप के सहारे टिका हुआ, कभी ब्रह्मवाद की ओर और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर ढलता बतलाया है। यदि कबीर में पैगम्बरी खुदावाद की भावना होती, तो उनकी कृतियों में पैगम्बर साहब का व्यक्तित्व अवश्य आ जाता। वस्तुतः कबीर ब्रह्म के नामों या शब्दों को परम्परागत अर्थों में न ग्रहण कर केवल बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के विरोध में लेते हैं, और एक निराकार ईश्वर की भावना का प्रचार करते हैं। उस एक निराकार की सत्ता जीवात्मा से भिन्न नहीं है, केवल माया के आवरण से भिन्न प्रतीत होती है, ऐसा भी उनका मत है। कबीर की भक्ति एकेश्वरवाद के अनिश्चित स्वरूप के सहारे नहीं टिकी है।

सूफी—फारसी में सफेद ऊन को सूफ कहते हैं। सूफ धारण करने वाले फकीरों का एक सम्प्रदाय सूफी मत का प्रवर्तक था। सूफी मत का प्रादुर्भाव इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। 'प्रेम ही कर्म और प्रेम ही धर्म' मानने वाले इस मत में ईश्वर की भावना कहीं किशोर और कहीं स्त्री रूप में की गई है। वह ईश्वर प्रेम-स्वरूप है। बंदा उसके हाथों की शराब पीने को तरसता है। सूफियों का मूल मन्त्र यह है कि ईश्वर प्रेम है और प्रेमी एवं प्रेमपात्र भी प्रेम के ही रूप हैं। सूफियों की स्त्री-रूपिणी प्रेम-स्वरुप ईश्वर की कल्पना कबीर की साखियों में नहीं मिलती।

अद्वैतवाद—इसके प्रवर्तक शंकराचार्य थे, जिन्होंने मायावाद अद्वैत और सन्यास का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार सृष्टि के पदार्थों का भिन्नत्व मिथ्या है। केवल एक शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य की आत्मा मूलतः ब्रह्म है। आत्मा और परब्रह्म की एकता के पूर्ण ज्ञान को अद्वैतावस्था कहते हैं। कबीर की साखियों में अद्वैतवाद का ही समर्थन है। 'परचा कौ अंग', 'लांबि कौ अंग', 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग', ,चाणक कौ अंग,' एवं 'कुसंगति कौ अंग,' में उसके पर्याप्त उदाहरण हैं, जिनमें कुछ आत्मा के अध्याय में उद्धृत किये जा चुके हैं।

विशिष्टाद्वैत—श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद चलाया। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद और अद्वैत सिद्धान्त को असत्य ठहरा कर, अद्वैत ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति को स्थापित किया। इनका मत यह है कि जीव, जगत और ईश्वर ये तीनों तत्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्)

और जगत (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं। चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। ईश्वर शरीर के इस सूक्ष्मचित्-अचित् से ही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् या अनेक जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। कबीर ने संन्यास और गृहस्थ जीवन के मध्य भक्ति को स्थापित कर वैष्णवों के मोक्षदाता राम को अपना संगी बनाया—

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥

(साध कौ अंग)

द्वैत सम्प्रदाय—इसके प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य थे। यह मत ब्रह्म और जीव की भिन्नता का प्रतिपादन करता है। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव में पूर्ण एकता और विशिष्टाद्वैत के अनुसार अपूर्ण एकता स्थिर होती है। परन्तु द्वैत मत के अनुसार ये परस्पर विरुद्ध और असंबद्ध बातें हैं। इसीलिये दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिये। कबीर की साखियों में द्वैत का भी उदाहरण मिलता है, जैसे—

'धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा॥

फिर भी कबीर अन्तिम सत्य के रूप में द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते।

द्वैताद्वैत—यह सिद्धान्त निम्बार्क प्रवर्तित एक वैष्णव सम्प्रदाय का है। निम्बार्क का मत है कि जीव, जगत और ईश्वर यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। परमेश्वर में जीव और जगत के सूक्ष्म तत्व रहते हैं। इस प्रकार ये त्रैतवादी हैं। त्रैतवाद का उदाहरण कबीर की साखियों में नहीं मिलता।

निर्गुण और सगुण

निर्गुण—सात्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न त्रिगुणातीत निर्गुण अवस्था होती है। सांख्य दर्शन के अनुसार जगत के दो मूल तत्व

पुरुष और प्रकृति हैं। पुरुष निर्गुण और प्रकृति त्रिगुणात्मक अर्थात सगुण है। सांख्य के पुरुष शब्द में असंख्य पुरुषों के समुदाय का समावेश होता है। किन्तु वेदान्त के अनुसार यदि पुरुष निर्गुण है, तो असंख्य पुरुषों के अलग-अलग रहने का गुण उसमें नहीं रह सकता। इस कारण पुरुष निर्गुण है और एक। 'गुरुसिष हेरा कौ अँग' में कबीर लिखते हैं:—

'ऐसा कोई ना मिलै, सब विधि देइ बताइ।
सुनि मंडल मैं पुरषि एक, ताहि रहै ल्यो लाइ॥'

यह निर्गुण पुरुष प्रकृति और जीव से परे अत्यन्त श्रेष्ठ श्रेणी का निर्गुण ब्रह्म है, जो जगत का मूल है। उपनिषदों (तैत्तिरीय, मुंडक०) में भी परब्रह्म के निर्गुण और अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है। कबीर ने इसी निर्गुण की उपासना का आदेश दिया। 'सुमिरण कौ अंग' में वे लिखते हैं:—

'गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग।
अह निसिहरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग॥

अव्यक्त—निर्गुण परमात्मा से कबीर का तात्पर्य अव्यक्त परमात्मा से ही है। अव्यक्त परमात्मा का स्वरूप क्या है? कबीर का आलोक-केन्द्र एक पुरुष निश्चित रूप से इन्द्रिय-गोचर नहीं है। वह अव्यक्त (आंखों से न दिखाई देने वाला) है। यह अव्यक्त निर्गुण ही हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि वह हमारी आँखों से न देख पड़े, तो भी उसमें सब प्रकार के गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इस प्रकार अव्यक्त के तीन भेद हैं—सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण। गुण शब्द में केवल उन गुणों का ही समावेश नहीं होता जिनका ज्ञान मनुष्य को उसकी बाह्येंद्रियों से होता है। इसमें वे गुण भी सम्मिलित हैं, जिनका ज्ञान मनुष्य को मन से भी होता है। मन के लिए गोचर हुए बिना किसी गुण या सत्ता की उपासना होना सम्भव नहीं। उपासना से तात्पर्य है प्रभु के समीप चिन्तन, मनन या ध्यान द्वारा बैठना। कबीर के उपास्य परमात्मा का स्वरूप अव्यक्त सगुण ठहरता है। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ अव्यक्त परमात्मा की उपासना बताई गई है, वहाँ-वहाँ अव्यक्त परमेश्वर सगुण ही कल्पित किया गया है। सिद्धान्त रूप में कबीर परमेश्वर को अव्यक्त मान कर भी उसे सर्वगुण सम्पन्न. सर्वकर्मा तथा दयालु

मानते हैं। उपनिषदकार भी इस तत्व से सहमत हैं कि अव्यक्त परब्रह्म का आकलन होना कठिन है। इस लिये मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकों द्वारा उस तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु उपासना के लिये प्राचीन उपनिषदों में जिन प्रतीकों का वर्णन किया गया है, उनमें मनुष्य देहधारी परमेश्वर के स्वरूप का प्रतीक कहीं पर भी नहीं है।

सगुण—निराकार परब्रह्म में सगुण जगत का दृश्य देखना अज्ञान का परिणाम है। मूलतत्व प्राकृत गुणों से रहित है, परन्तु अपने गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण भी है। यह आवश्यक नहीं कि इन्द्रियों से अगोचर होकर भी अव्यक्त सगुण न हो। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने कबीर के निर्गुण परमात्मा के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—"कबीर के मत से भगवान के निर्गुण होने का अर्थ सगुण-निर्गुणातीत होना होता है," फिर "कबीर के निर्गुण ब्रह्म का अर्थ निराकार, निस्सीम है, परन्तु निर्विषय नहीं है।" शास्त्रीय दृष्टि-कोण से भी जो निर्विषय नहीं है, वह सगुण है, चाहे वह अव्यक्त ही क्यों न हो।

अभेद-दर्शन

इस प्रकार यह निश्चित है कि कबीर का परमात्मा आत्मा से अभिन्न, रूपा-तीत, निराकार और साधना के लिये सगुण अव्यक्त है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसे कबीर की स्वाभाविक मुसलमानी प्रवृत्ति कहा है और निराकार की उपासना-प्रेमपूर्ण भक्ति-को कबीर की बड़ी भूल बतलाया है। उन्होंने एक सुझाव भी दिया है:—"यदि उन्हें (कबीर को) निराकार भावना से ईश्वर की आराधना करनी थी, तो वे भक्ति और प्रेम से न करते। न तो निराकार की ठीक उपासना कर सके और न साकार की पूरी भक्ति।" कबीर में मुसलमानी प्रवृत्ति खोजने का प्रयास व्यर्थ है, एकेश्वरवाद की व्याख्या में इसे स्पष्ट कर दिया गया है। फिर निराकार परमात्मा के प्रेम स्वरूप की उपासना में कैसी भूल? कबीर को मूर्ति-पूजक अंध विश्वासी जनता को प्रेम की राह दिखानी थी। कबीर का उद्देश्य ही अव्यक्त सगुण की उपासना कर शुद्ध तत्व या निर्गुण की प्राप्ति करना था। कबीर की सगुणोपासना मन तक ही सीमित थी। वे साकारोपासना में पाषाणों तक पहुँच कर जीवन की सक्रिय अनुभूति को निष्क्रिय नहीं कर सकते थे। यह भूल नहीं थी, मन के सहज संस्कार थे, जो 'उसकी' अनुभूति और अभेद दर्शन से सजग और चंचल थे। 'नदी के प्रवाह का

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक बिन्दु जो समुद्र की महान सत्ता में विलीन होने के लिये दौड़ लगा रहा है, वह इसी अभेद-प्रतीति-जन्य प्रेम के कारण।' (कबीर—डा० हजारी प्रसाद) कबीर अभेदात्मक ज्ञान की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील थे। कबीर ने अभेद-दर्शन की सलाह दी—भिन्नता तथा मूर्ति-पूजा की निरर्थकता दिखाते हुए वे कहते हैं:—

'आदि मधि अरु अंत लौं, अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग।
सहजैं सहजैं सब गये, सुत बिन कांमणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम॥
'कबीर इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार।
पूंछ ज पकड़ै भेड़ की, उतर्या चाहे पार।'

परमात्मा के नाम

कबीर ने ईश्वर के समस्त नामों के परदे उठा कर एक अभेद का दर्शन किया—

'कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।

कबीर ने साहिब जैसे नवीन नामों के अतिरिक्त विभिन्न सम्प्रदायों और पौराणिक नामों को भी ग्रहण किया, जैसे गोविन्द, हरि, गोपीनाथ, सारंगपानि, मुरारि, रघुनाथ, केशव, गोपाल, कृष्ण, जगदीश, त्रिभुवनपति, शम्भु, शिव, ब्रह्म, निरंजन, अल्लाह, खुदा, करीम आदि ग्रहण किया।

साहिब—

चलौ चलौ सबको कहै, मोहि अन्देसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जाहिंगे किस ठौर॥

उनका साहिब वही है, जो समस्त ब्रह्माण्ड में रम रहा है।

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रमि रहा, साहिब कहिये सोइ॥

उस साहिब को, बिना आगा–पीछा किये ही कबीर ने अपना जीवन अर्पित कर दिया :—

'सिर साहिब कौं सौंपना, सोच न कीजै सूरि ।'

हरि—कबीर का 'हरि' सबका सगा है । जिसने हरि को जैसा जाना, उसको वैसा ही लाभ हुआ । हरि-संगति से मोह की ताप मिटती है और जैसा है तैसा ही रहता है । हरि की भक्ति के बिना संसार में जीना धिक्कार है । हरि पापों को क्षमा देता है । हृदय के भीतर हरि बसा है । वह स्वप्नों में आकर सोते को जगा देता है ।

गोविन्द आदि—गोविन्द की कृपा से गुरु मिलता है । जिसके घर गोविन्द नहीं है, वहाँ अँधेरा है । गोविन्द से वियोग का अनुभव होने पर पीड़ा की तड़-पन जीवन में व्याप्त हो जाती है । जगदीश ज्योतिस्वरूप है । बिना जगदीश की ज्योति के जगत से बाहर जाना सम्भव नहीं । कबीर का त्रिभुवन राइ वह है, जो हृदय में है; ब्रह्म वह है, जो सीस पर झलकता है । ज्योतिर्मय, तेजस्वरूप पार-ब्रह्म वह है, जो पल में निहाल कर देता है । अलखनिरंजन राइ वहाँ है, जहाँ चन्द्र के बिना ज्योत्स्ना का अस्तित्व है । अल्लाह की अदया से अभाव का अनुभव होता है । करीम कर्मों का लेखा रखता है ।

राम—कबीर का राम आशा का केन्द्र है । राम की कृपा बिना प्राणी संसार में अभाव से छटपटाता है । राजाराम तो उस भक्त का ग्राहक है, जो महँगा मूल्य देता है । राम से प्रीति जोड़े बिना स्थिति नहीं होती । राम पावक रूप है, जो घट-घट में समाये हैं –

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढै वन माँहि ।
ऐसैं घट घट राम है, दुनियां देखै नाहिं ॥

राम को क्या पूछना, वह तो 'सकल भवनपति राइ है'—

'कबीर पूछै रांम कूं, सकल भवनपति राइ ।
सबही करि अलगा रहौं, सो विधि हमहिं बताइ ॥'

राम को खटी कसौटी पर वही ठीक उतरता है, जो जीवित अवस्था में संसार की वासनाओं के लिए मृतक है— राम सहायक है—राम सर्वत्र है ।

'ज्यूं जल मैं प्रतिब्यंब, त्यूं सकल रांमहि जाणी जै'

राम दयावान हैं। राम सुख की राशि हैं।

'कबीर सब सुख राम हैं, और दुखां की रासि।'

साखियों में परमात्मा का रूप

कबीर की साखियों में परमात्मा का स्वरूप-वर्णन तीन दृष्टिकोणों से है—

(१) दार्शनिक दृष्टिकोण
(२) भावुक दृष्टिकोण
(३) साधारण दृष्टिकोण

दार्शनिक दृष्टिकोण विचारों को उत्तेजित करता है। भावुक दृष्टिकोण में कल्पना की तीव्रता, कथन की मधुरिमा और पीड़ा की रेखा है। साधारण दृष्टिकोण अमूल्य परमात्मा के मूल्य को आंकना चाहता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण—कबीर उसकी अनंतता का और सागर सी विशालता का अनुभव करते हैं। उस अनंत का दिग्दर्शन करानेवाला गुरु था:—

'लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार।'
'हरि सागरि जिन बीसरैं..............।

(सुमिरण को अंग)

बून्द समानी समद में सो कत हेरी जाइ।

कबीर सर्वत्र उस ब्रह्म का अनुभव करते हैं, जो सारे ब्रह्माण्ड में रम भी रहा है और उससे निराला भी है, संसार के दृश्य से विलग भी है—

'रहैं निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि।'

वह घट-घट वासी है; हृदय के भीतर है—

'हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सौं लौ लाइ।'

वह सर्वस्व है, सब प्रकार समर्थ है—

"साईं सूं सब होत है, बंदे थैं कछु नांहि ।
राई थैं परवत करै, परवत राई माँहि ।"

वही कर्त्ता है । यह शरीर तो कुछ भी करने योग्य नहीं है ?

"नाँ कुछ किया न करि सक्या, नां करणे जोग सरीर ।
जे कुछ किया सु हर किया, ताथैं भया कबीर ॥"

कबीर ने कर्त्ता ब्रह्म को दो रूप दिये हैं—

राज (चिजारा)—

"कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैंवार ।
करि चिजारा सौं प्रीतड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी वार ॥"

शाह—

कबीर पूँजी साह की, तू जिन खोवै ख्वार ।

मनुष्य ने चेतनारूपी पूंजी तो ब्रह्म से उधार ली है। उसकी चेतना महान चेतना का ही स्फुलिंग है।

वह समर्थ तो है ही, सम्पूर्ण भी है। उनमें सबका अवसान है। वह परिपूर्ण है—

राम निकुल कुल भेंट लै, सब कुल रह्या समाय ।'

उस पूर्ण प्रभु से साक्षात्कार होने पर दुख की घटायें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं—

'पूरे सूं परचा भया सब दुख मेल्या दूरि ।

इसी भावना का मुण्डकोपनिषद में भी वर्णन है:—

'स यो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्म
वित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रंथिभ्यो
विमुक्तोऽमृतो भवति ॥

जो उस परमब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। फिर उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् उत्पन्न नहीं होता। वह दुख, शोक, पाप सबसे दूर हो जाता है, गुहा-ग्रंथियों से विमुक्त और अमृत हो जाता है।
परिपूर्ण होने पर वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व है :—

'जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रुपक रूप।
पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत्त अनूप॥'

परमात्मा अजपा है, अलख है, अलेख है। वह अद्भुत जहाँ है, वहाँ वेद-कुरान की पहुंच नहीं।

'ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ।
वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या न को पतियाइ॥'

ब्रह्म आनंद स्वरूप है। वह पूर्ण परमानंद है, जिसे देखने की अभिलाषा में कबीर ने शीघ्र ही सांसारिक जीवन को समाप्त कर देने की आकांक्षा प्रकट की है :—

'कब मरिहूँ कब देखहूँ, पूरन परमानंद।'

ब्रह्म ज्योति स्वरूप है :—

'कबीर देख्या एक अग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुञ्ज पारस धणीं, नैनूँ रहा समाइ॥'
(परचा कौ अंग)

इस दार्शनिक स्वरूप भेद में केवल एक ब्रह्म की स्थापना है। उसके एक होने का स्थान-स्थान पर कबीर स्मरण कराते जाते हैं। उसी एक को न जानने से सारा ज्ञान, सारी बहुज्ञता व्यर्थ है। 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग' में वे लिखते हैं:—

'जे ओ एक न जांणियां, तौ बहु जाँण्यां क्या होय।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ॥'

छांदोग्योपनिषद के अध्याय ६, खंड ४ के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है:—

सर्वस्य सद्विकारत्वात्सतो विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं ॥
तस्मात्सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति सिद्धमेव भवति ।
तदेकस्मिन्सति विज्ञाते सर्वमिदंविज्ञातं भवतीति सूक्तम् ॥

इस प्रकार सब कुछ सत् का ही विकार होने के कारण सत् के ज्ञान से यह सब कुछ जान लिया जाता है। अतः एक मात्र अद्वितीय सत् ही सत्य है—यह सिद्ध हो है। इस लिये यह ठीक ही कहा है कि उस एक को जान लेने पर सब जान लिया जाता है।

भावुक दृष्टिकोण—कबीर के भावुक दृष्टिकोण ने अव्यक्त को प्रेम स्वरूप बनाकर उससे भारतीय दाम्पत्य प्रेम का चिर सम्बंध जोड़ लिया। प्रेम स्वरूप ब्रह्म को कबीर ने पति, दोस्त, अतिथि, ग्राहक और सेवक कहा है।

पति—वास्तव में प्रेम की सारी व्यंजनायें और व्याख्यायें एक पति-पत्नी के सम्बंध में ही निहित हैं। कबीर ने स्थान-स्थान पर पति-पत्नी के इस चिर सम्बंध की ओर संकेत किया है—

'कबीर जग की को कहै, भौ जलि बूड़ैं दास।
पार ब्रह्म पति छाँड़ि करि, करैं मानि की आस ॥'

(माया कौ अंग)

तथा

'मन प्रतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसें रहसी रंग ॥
कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहुँ गुणियाले कन्त।
जे हँसि बोलौं और सौं, तौ नील रंगाऊं दन्त ॥'

(निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग)

दोस्त—

'जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥
पांणी ही तैं पातला, धूंवां ही तैं क्षीण ॥
पवना वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन ॥

तथा

एक जो दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ ॥

इस मैत्री के सम्बंध में सम्भवतः कबीर का उद्देश्य ब्रह्म के सामीप्य अनुभव का वर्णन करना है।

अतिथि—निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग में कबीर लिखते हैं:—

घरि परमेसुर पाहुंणा, सुणौ सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छाँड़ै पास ॥

ऋग्वेद में परमेश्वर के अतिथि रूप का वर्णन है।* ग्राहक स्वरूप का वर्णन 'राम' के प्रसंग में किया गया है। जब मनुष्य जीवित ही मृत हो जाता है तब हरि भक्त का सेवक हो जाता है—

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपणि करै, मति दुख पावै दास ॥

साधारण दृष्टिकोण—ब्रह्म को साधारण दृष्टिकोण से कबीर ने मानव और वस्तु रूप में देखा है। मानव रूप में ब्रह्म को साह, बनियाँ और वैद्य रूप में भी लिया है। साह रूप का वर्णन पहले हो चुका है।

बानियाँ—

'साइँ मेरा बाणियाँ, सहजि करै व्यौपार।
बिन डाँडी बिन पालड़ै, तौले सब संसार ॥

वैद्य—कबीर को दूर देश जाने की प्रबल आकांक्षा है, जहाँ वृद्धावस्था और मरण की पहुँच नहीं, जहाँ सब अमर हैं और विधाता ही वैद्य है—

'जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ।
चलि कबीर तिहि देशड़ै, जहाँ बैद्य विधाता होइ ॥'

निर्जीव वस्तुओं में हरि को हीरा, मोती की माला, कसौटी, अमल आदि रूपों में कबीर ने अंकित किया है।

---

*विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्। ऋ० ४-१-२०

हीरा—

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माँडिय हाटि ।
जबरे मिलैगा पारिषू, तब हीरा की साटि ॥

मोती की माला—

'विचार कौ अंग' में हरि मोती की माल है, ऐसा कहा है—

कसौटी—

राम कसौटी सौं टिकैं, जौ जीवत मृतक होइ ॥

अमलि—

'रस कौ अंग' में तथा 'विर्कताइ कौ अंग' में—

राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥

और

राम अमलि माता रहै गिणै इन्द्र कौ रंक ।

नशा—रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति भक्त को संसार से पृथक कर देती है । कबीर ने परमात्मा को 'परचा कौ अंग' में निराला रतन, 'रतन निराला पाइया' और 'गुरुदेव कौ अंग' में 'निहचल निधि मिलाइ तत'आदि कह कर वर्णन किया है ।

इस प्रकार कबीर का परमात्मा 'अविगत, अविनाशी, अन्तर्यामी घट—घटवासी, त्रिभुवन राइ और सृजनहार है । वह देह-विहीन देव है । वह जैसा का तैसा रहता है । वह अपरिवर्तनशील है । कबीर का रूपातीत उपनिषद के शब्दों में 'अणो रणीयान् महतो महीयान्' अर्थात छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है ।

अनात्मा या माया

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद ४॥१०)

अर्थात् 'प्रकृति को तो माया जानना चाहिये और महेश्वर को मायी (माया का अधिपति)। उसी के अवयवभूत (कार्यकरण संघात) से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है।'

कबीर-साहित्य में जिस माया को व्यक्तित्व मिला, उसका इतिहास भारतीय दर्शन में श्वेताश्वतरोपनिषद् से अंकित किया जा सकता है। वहाँ वह नाम रूपात्मक अविद्या के लिये ही दूसरा पर्याय है। बृहदारण्यकोपनिषद के प्रथम अध्याय के छठे ब्राह्मण में नाम, रूप और कर्म के त्रय को अनात्मा बताया गया है। वास्तव में शास्त्रीय उपपादन के सुभीते के लिए अनित्य या परिवर्तनशील और नामरूपात्मक दृश्य को, जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष देख पड़ता है, वेदान्त शास्त्र में माया कहा जाता है।

शांकर माया

श्री शंकराचार्य ने माया के लक्षण देते हुए कहा, "(इंद्रियों के) अज्ञान से मूलब्रह्म में कल्पित किए हुए नाम-रूप को ही श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में, सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया शक्ति' अथवा प्रकृति कहते हैं; ये नाम-रूप सर्वज्ञ परमेश्वर के आत्मभूत से जान पड़ते हैं; परन्तु इनके जड़ होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि ये परब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न और यही जड़ सृष्टि (दृश्य) के विस्तार के मूल हैं।'' संसार के समस्त व्यापार का मूलभूत जो यह सृष्टयुत्पत्ति काल का कर्म अथवा माया है, वह ब्रह्म की ही लीला है, परन्तु यह प्रवाह से अनादि है। इसका आदि ज्ञात नहीं होता। मायात्मक कर्म प्रारम्भ में कैसे उत्पन्न हुआ, यह कैसे ज्ञात हो? कर्म शक्ति का कभी नाश नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से इस नामरूपात्मक परम्परा को ही जन्म-मरण का चक्र या संसार कहते हैं। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि इस अनादि कर्म-प्रवाह के ही संसार, प्रकृति, दृश्य, सृष्टि और माया नाम हैं। कबीरदास भी कहते हैं—

'माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आशा त्रिष्णा ना मुई, यौं कह गया कबीर॥'

अतः इस रूप में माया अमर है।

श्री शंकराचार्य का कथन है कि सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सब में एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा है और उसी की माया से मनुष्य की इन्द्रियों को भिन्नता का भास हुआ करता है। शांकर माया और कबीर के विवेचन में जो अंतर है, उसका कारण दोनों व्यक्तियों के निर्माण की विभिन्न परिस्थितियाँ हैं। कबीर ने दर्शन का उद्‌घाटन काव्य की कल्पना द्वारा नैतिकता के रंगों से भर कर किया। शंकराचार्य की माया की व्याख्या में चिंतन है, कल्पना नहीं। कबीर ने माया को व्यक्तित्व देकर उसे भौतिक जगत में विभिन्न और विशेष रूपों में देखा है। वैष्णवों के कुछ सम्प्रदाय मायावाद को स्वीकार न करके ही उत्पन्न हुए, क्योंकि आँख से दीखने वाली वस्तु को माने बिना व्यक्त की उपासना अर्थात भक्ति निराधार हो जाती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि भक्ति के लिते अद्वैत और मायावाद को बिलकुल छोड़ ही देना चाहिये। महाराष्ट्र के साधु सन्त और हिन्दी प्रदेश के सन्तों ने, जिन में कबीर प्रधान हैं, अद्वैत और मायावाद को स्वीकार करके भी भक्ति का समर्थन किया है, किन्तु यह भक्ति अव्यक्त के प्रति थी।

अनात्म बंधन

वास्तव में ज्ञाननिष्ठ निवृत्ति मार्ग में विकारवान अथवा नाशवान नामरूप माया या अनात्म का खंडन करके ही, आत्म तत्व के नित्यत्व की प्रतिष्ठा हो सकती है। आत्म दर्शन तो नानात्व को मिथ्या समझ लेने पर ही सम्भव है। आवागमन चक्र से छूटने के लिये नानात्वदर्शन की प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है। (बृहदारण्यकोपनिषद के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में इसका वर्णन है:—

मन सैवानु द्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

अर्थात, "ब्रह्म को आचार्योपदेशपूर्वक मन से ही देखना चाहिये। इसमें नाना कुछ नहीं, जो नाना के समान इसमें देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।" कबीर ने अनात्म-बंधन तोड़ने का उपदेश अपनी साखियों में दिया है। अनात्म रूपों में फँसकर मनुष्य भगवान की भक्ति से वंचित रहता है। माया हरि और भक्ति के बीच अंतर बढ़ाती है। 'माया को अंग में'—

जाणौं जे हरि कौं भजौ, मो मन मोटी आस ।
हरि विचि घालै अतरा, माया बड़ी विसास ॥

परन्तु जो भक्त भगवान की शरण में आ जाता है, वह तृष्णा के फेर में पड़ कर जीवन नहीं खोता ।

राम चरन नीका गही, जिनि जाइ जनम टगाइ ।

माया के कारण मनुष्य प्रलोभित होता है, परन्तु उसकी कितनी आशाएँ पूर्ण होती हैं और उनसे तृप्त कौन होता है ?

'पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै विजोग ।

कोई व्यक्ति सांसारिकता से सन्यास लेने मात्र से ही माया-पाश से नहीं छूटता । माया तो अन्तर की वासना है, जो जीव को सांसारिक कार्यों के लिये उत्तेजित करती रहती है । ज्ञानी-अज्ञानी सभी माया के वश में हैं—

'कबीर माया मोहनी, मोहे जांण सुजांण ।
भागा भी छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण ॥

माया कितनी मोहक किन्तु विषैली है, जो निवृत्ति मार्ग की साधना को भग्न कर देती है । इससे संसार त्रस्त है । जगदीश का स्मरण करने वाले जो संत समाज की रूढ़ियां को तोड़ देते हैं और माया को मिथ्या समझ कर उसका प्रभुत्व मन से हटा देते हैं, उन्हें माया साधन रूप में प्राप्त होती है । इस संसार के साधारण प्राणियों की कौन कहे, भक्त भी माया में लिप्त होकर परब्रह्म को त्याग कर सांसारिक सम्मान की आशा करता है और राम की उपेक्षा कर संसार को प्रधानता देता है । इस संसार का माया मोह मिथ्या है । जिस मन में जितनी आशायें और आकांक्षायें हैं, उस मन में अज्ञान का तम उतना ही अधिक है । शुद्ध जीवात्मा संसार की माया में लिप्त नहीं होता ।

साखियों में माया के रूप

कबीर ने साखियों में माया को दीपक, स्त्री, जल, वृक्ष, दावाग्नि, मेंड़, बेल आदि रूपों में अंकित किया है । माया सांसारिक मनुष्यों के लिए आकर्षण का केन्द्र है । माया दीपक रूप है, जिस में जल कर मानव-पतंगे जीवन खोते हैं ।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत ।।

कबीर ने स्त्री-रूपिणी माया के कई रूप लिए हैं। माया संसार के बाजार में वेश्या-रूप है। माया पापिन है, जो संसार की हाट में मनुष्यों को प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाती है और यह विश्वास-घातिनी मन को कुमति की शृंखला से बाँध देती है। माया वेश्या रूप तो है ही। इस कारण वह मोहिनी है, मधुर है। इसके नेत्र-बाणों से मनुष्य कैसे बच सकता है? यह वेश्या एक की होकर नहीं रहती। प्रलोभित कर जीवन-धन हरण कर लेती है। अतृप्त मनुष्य संसार के कर्मचक्र में फँसने के लिए फिर मरण से मरण को प्राप्त होता है। मोहिनी माया को केवल रूप-जाल समझ लेने पर माया मनुष्य की चेरी हो जाती है। संत जन माया को दासी बनाकर उस पर शासन करते हैं, माया से नियंत्रित नहीं होते। माया डाकिनी रूप होकर भी संतों के पास जाने का साहस नहीं करती—

'कबीर माया डाकणी, सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणी, जै संतौं नेड़ी जाइ ॥'

कबीर का स्पष्ट आदेश है कि माया कितना ही आकर्षित क्यों न करे, माया के समीप न जाये। नारद ऐसे मुनि भी माया के फेर में फँस गये।

माया जल रूप है जिसमें डूब कर भक्त भी सांसारिक सम्मान की आकांक्षा से आन्दोलित हो उठता है।

कबीर ने माया को तीन गुणवाला तरुवर भी माना है, जिसकी शाखायें दुख और संताप रूप हैं। इस वृक्ष का फल शरीर में तृष्णा की अग्नि भर देता है। इसका आश्रय स्वप्न में भी शीतलता नहीं प्रदान करता—

'माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तन ताप ॥'

यह ऐसा वृक्ष है कि इसमें एक ओर आग लगती है तो दूसरी ओर जीवन का लक्षण, हरियाली प्रकट होती है। एक आशा, आकांक्षा मिटकर, जलकर दूसरी आशा-आकांक्षा के आगम की राह बनाती है। इस वृक्ष की जड़ काट देने पर ही, या माया को नष्ट कर देने पर ही, जीवन का फल या अभेद-दर्शन की प्राप्ति होती है—

आगै आगै दौ जलै, पीछै हरिया होइ ।
बलिहारी ता बिरष की, जड़ काट्याँ फल होइ ॥

माया का दावाग्नि रूप इस पंक्ति में है—'नलिनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि ।' नलिनी जीवात्मा और सागर संसार है।

कबीर ने—

'माया की झल जग जल्या,
'मेर मिटी मुकता भया' तथा
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ ।

इन पंक्तियों में माया को अग्नि, मेंड़ तथा लता का रूप दिया है और कहा है —

आंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध ।
ससा सींग की धुनहड़ीं, रमैं बांझ का पूत ॥
(बेली कौ अंग)

अर्थात् माया से सुख-रूपी फल की आकांक्षा करना व्यर्थ है।
माया को त्याग कर ही मनुष्य साधु हो सकता है।

कबीर ने साखियों में अहंकार या सम्मान की आशा, कनक, कामिनी और कर्मचक्र को माया के अन्तर्गत ही माना है। इस प्रकार (१) पिंड और (२) ब्रह्मांड दो स्वरूपों में माया-विस्तार का विभाजन हो सकता है। यदि पिंड या मानव शरीर के रूप में उसके सौंदर्य और यौवन की क्षणिकता तथा अहंकार की भावना का कबीर ने वर्णन किया, तो ब्रह्मांड या संसार के रूप में उसके मोह, लिप्सा और कर्म का भी रहस्य खोला है।

मानव शरीर

साखियों में शरीर के सम्बंध में दो बातें अधिक स्पष्ट हैं । एक तो यह कि शरीर या जीवन को शीघ्र से शीघ्र सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये; दूसरे यह कि शरीर की नश्वरता को बार-बार ध्यान में रखना चाहिये । शरीर की अस्थिरता को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है । 'गुरुदेव कौ

अंग, में शरीर की 'सारी' रूप में कल्पना की है। शरीर को परमात्मा की भक्ति या प्रेम का क्रीड़ा स्थल ही बनाना चाहिये —

'पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया शरीर।'

'बिरह कौ अंग' में शरीर को रबाब और दीपक बनाकर जीवन सार्थक करने का कष्टसाध्य प्रयत्न किया गया है।

'सब रग तंत, रबाव तन।'
'इस तन का दीवा करौं ।।'

'लांबि कौ अंग' में शरीर को कमंडल वनाकर उस में प्रेम का निर्मल नीर भरने का आदेश कबीर ने दिया है।

'गुरुदेव कौ अंग' में माया को दीपक और मनुष्य को पतंगा बताया है। इसी अंग में शरीर को बेड़ा (नाव) रूप में भी कल्पित किया है। 'चिंतामणी को अंग' में शरीर को जर्जर नाव का रूप दिया है। 'ग्यान बिरह कौ अंग' में शरीर रूप खप्पर को तोड़कर आत्मा के मुक्त होने का वर्णन है। 'चिंतामणी कौ अंग' में कबीर ने शरीर की आशा को व्यर्थ सिद्ध किया है—

'कबीर कहा गरबियो, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥'

चाम लपेटे हाड़ रूप शरीर का गर्व क्या ? शरीर तो सर्प को केंचुल की भाँति है:—

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।
बीछड़िया मिलवौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग ॥

कबीर ने मानव-शरीर के यौवन और सौंदर्य की क्षणिकता का प्रतिपादन किया है। यह शरीर केवल चार दिनों की माया है, फिर मिट्टी ही हो जायेगा:—

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी जु बांधी एह।
दिवस चारि का पेषणा, अंति खेह की खेह ॥

कबीर ने शरीर को देवल और मन्दिर भी बताया है, जिसे पता नहीं किस राज ने निर्मित कर दिया है। इसमें ज्ञान और कर्म रूप बहुमूल्य हीरा-लाल

जड़े हैं, परन्तु यह सब नश्वर हैं। 'मन कौ अंग' में भी शरीर को देवल बताया है। मनुष्य योनि बार-बार नहीं मिलती। यह शरीर तो 'काया हाँड़ी काठ की' काठ की हाँड़ी के समान है, जो संसार में खोकर फिर प्राप्त नहीं होता। 'यहु तन काचा कुंभ है', शरीर तो कच्चा घड़ा है, जो विषय-विषाद की चोटें खाकर किसी भी क्षण फूट सकता है, फिर कुछ करते-धरते न बनेगा। यह शरीर ही कर्मों को करता है और कर्म ही जीवन का अंत करते हैं। इस प्रकार 'शरीर', बन-रूप और 'कर्म' कुल्हाड़ी हैं। यदि मनुष्य भक्ति करता है, तो शरीर सोने के समान मूल्यवान और सार्थक है, नहीं तो आटे की लोई के समान व्यर्थ है:—

हूवैसी आटा लूँणि ज्यूँ, सोना सवां शरीर ॥

'मन कौ अंग' में शरीर कागज की नौका और मन पानी की गंगा के रूप में है।

कागद केरी नांव री, पाणीं केरी गंग ॥

इसी अंग में शरीर को मन रूप मृग के मारने के लिए, धनुष रूप में चित्रित किया है। यद्यपि शरीर माया का रूप है तो भी माया अमर है और 'रज,वीर्य की कली' शरीर मरणशील है।

"भ्रम बिधौंसण कौ अंग" में बाह्याचारों के विरोधी कबीर ने शरीर की काशी जैसे पावन तीर्थ से तुलना की है। 'संगति कौ अंग' में पक्षीरूप तन, मन का सहगामी बनकर संगति का फल पाता है। कबीर शरीर की भूख की परवाह नहीं करते, क्योंकि जिसने शरीर रूप पात्र का निर्माण किया है, वह स्वयं ही आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा।

भांडा घाड़ जिनि मुँदिया, सोई पूरण जोग।

'सूरा तन कौ अंग' में शरीर को ऊँचा वृक्ष बता कर उसके फल में अमृत की स्थिति बताई है, जो सहस्रार चक्र, आकाश या ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर है। 'काल कौ अंग' में मनुष्य को काल रूपी बाज का ग्रास, पक्षी, बताया है। यह बाज अचानक ही जीवन का अन्त कर देता है। जिस वस्त्र को धारण किया जाता है, वह फट जाता है, जिस शरीर या नाम-रूप को धारण किया

जाता है, वह भी फट जाता है । यह शरीर तो जल का बुलबुला है, क्षण भंगुर है, जिसे पवन सँवारता रहता है । 'कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि' । परन्तु, 'यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार' । और—

'पाणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति ।
एक दिना छिप जाहिंगे, तारे ज्यूं परभाति ॥'

अहंकार

जीवन-वीणा के तार टूट जाते हैं । वाद्यकार आत्मा चल देती है । फिर जीवन स्पन्दन-रहित होकर लाचार हो जाता है:—

'कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावण हार ॥'

ऐसा क्षणिक जीवन और नश्वर शरीर लेकर भी माया-ग्रस्त मनुष्य अहंकार में ग्रसित होता है । साधारण मनुष्य की कौन कहे, भक्त भी परब्रह्म पति को छोड़कर सम्मान की आशा करता है । संसार का धन और रूप त्याग कर भी यदि अहंकार का त्याग नहीं किया, तो सब व्यर्थ है:—

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहिं जाय ।
मानि बड़े मुनिवर गिले, मानि सबनि कौं खाइ ॥

संसार

कबीर ने संसार को क्षणिक, नश्वर, निस्सार और परिवर्तनशील मानकर दुख के मूल कारण रूप में अंकित किया है । मनुष्य तो वृक्ष रूपी संसार के नीचे पड़ा, मृत्यु की घड़ी की प्रतीक्षा करता है । 'ज्ञान बिरह कौ अंग' में—

मारया है जे मरैगा, बिन सर थोथी भाल ।
पड्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै कालिह ॥

वृक्ष रूप में संसार की कल्पना यूरोप की पुरानी भाषाओं में भी मिलती है । वेद, उपनिषद और गीता में संसार की कल्पना अश्वत्थ वृक्ष के रूप में की गई

है। कठोपनिषद के अध्याय २ बल्ली ३ में लिखा है:—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः जिस का मूल ऊपर की ओर तथा शाखायें नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है।

शाल्मली पुष्प में गूदा नहीं होता, इसी प्रकार संसार भी शोभावान होकर भी निस्सार है। यहाँ का रागरंग झूठा है---

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंवल फूल।
दस दिन के व्यवहार कौं, झूठै रंग न भूलि।

संसार दुखमय है, जहाँ प्राणी अभावग्रस्त होकर अशान्त रहता है।

'दुनियाँ भाँड़ा दुख का भरी मुहाँमुह भूष ॥

संसार तो बाजार है। यह परदेश है—'इत प्रघर उतघर'। संसार काजल की कोठरी है। भक्त ही अपना सिर देकर संसार के राग और द्वेष रूप कालिमा से अकलंकित रह पाता है—

''काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पै सिर निकसणहार ॥

इस संसार रूप नगर में तो बहुत गड़बड़ी है।

कत कत की सालि पाड़िये, गलबल शहर अनन्त।

वैद्य भी मरता है, रोगी भी मरता है, सारा संसार मरणशील है :—

बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार ॥

'संसार मृत्यु का चबैना है' जिसका कुछ भाग मृत्यु के मुख में है और कुछ मृत्यु की गोद में है। परन्तु संसार के झूठे सुख में भी मनुष्य आनंदित होता है।

'झूठै सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥'

परिवर्तनशील संसार क्षण में सुखमय और क्षण में विषादमय प्रतीत होता है। कल जो बैठा साज सजा रहा था, वह आज श्मशान में दिखाई देता है—

'कबीर यहु जग कुछ नहीं, पिन षारा पिन मीठ ।
कालिह जु बैठा माड़ियां, आज मसाणां दीठ ।।

जिन राज भवनों में संगीत की मधुर स्वर-लहरी प्रतिध्वनित होती थी, उन्हीं से कुछ काल पश्चात कौवों की कर्णकटु ध्वनि आती है। किन्तु इस संसार-सागर में यदि हीरा रूप ब्रह्म की प्राप्ति हो गई, (सागर माँहि ढढोलता, हीरै पड़ि गया हथ्थ) तो उसके प्रेम का रंग किसी धोबी के छुटाने से भी नहीं छूट सकता—

'सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाय ।'

संसार की माया अर्थात् सम्पत्ति और सुन्दरी, रूप और रुपया के मोह जाल में पड़ कर मनुष्य अपने अमूल्य जीवन को खो देता है। कनक और कामिनी दोनों भयंकर विष हैं। प्रथम को देखकर अहंकार होता है, दूसरे का भोग चिर अतृप्त तृष्णा को जन्म देता है—

'एक कनक अरु कामिनी, विष फल कीएऊ आइ ।
देखै ही मैं विष चढ़ै, खायें सूं मरि जाइ ।।'

स्वर्ण और सुन्दरी दोनों ही अग्निस्वरूप हैं। एक का अवलोकन और दूसरे का स्पर्श जीवन में मोह की आग भर देता है—

एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगिन की झाल ।
देखें ही तन प्रजलै, परस्या ह्वै पैमाल ।।

कबीर ज्ञानी थे। उन्होंने कनक और कामिनी दोनों का परित्याग कर दिया, 'कबीर त्यागा ग्यांन करि, कनक कामिनीं दोइ ।'

कबीर ने कामिनी या स्त्री को 'कामी नर कौ अंग' में नागिन, मीनी, विष, नर्क, झल और जूठन के रूप में चित्रित किया है। जैसे—

नागिन—

कामिणि काली नागिणी, तीन्यूं लोक मँझारि ।

मधु मक्खी—

कामिणि मीनी षाणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ ।

विष—

खातां मीठी खाँड सी, अंति काल विष होइ ।

नर्क—

नरनारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम ।

कामिनी माया का मोहक स्वरूप है। वह रूप-जाल है, जिसमें मानव मन उलझता है तथा ज्ञान, भक्ति और मुक्ति का विनाश होता है। अनात्मा का मिथ्यात्व समझ लेने पर भक्ति का—आत्मसाक्षात्कार का—मार्ग सरल हो जाता है। इस मार्ग पर चल कर परमात्मा की प्राप्ति होती है।

कर्म और भाग्य

अनात्मा के सर्ग में हम लिख चुके हैं कि माया में कर्म का भी समावेश है। गीता के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने पुरुषोत्तम से प्रश्न किया—"किं तद् ब्रह्म कि मध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम।" अर्थात् हे पुरुषोत्तम। ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? मधुसूदन का उत्तर था—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः ।

"(कभी न नष्ट होने वाला) परम अक्षर तत्व ब्रह्म है, प्रत्येक वस्तु का मूल अध्यात्म है और (अक्षर ब्रह्म से) भूतमात्रादि (चर अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करने वाला विसर्ग अर्थात सृष्टि व्यापार कर्म है। कर्म व्यापार अथवा क्रिया को कहते हैं, फिर वह चाहे मूलसृष्टि के उत्पन्न होने की हो, या सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो या मनुष्य-कृत हो। कर्म का सदैव केवल इतना ही परिणाम होता है कि एक नाम-रूप बदल कर दूसरा नाम-रूप हो जाये। कुम्भकार के व्यापार से मिट्टी का मिट्टी नाम न रहकर घट नाम पड़ जाता है। कबीर ने साखियों में कर्म के दो रूप लिये हैं--

(१) मूल सृष्टि की उत्पत्ति और
(२) मनुष्य कृत, कर्म का निरूपण

(१) संसार कर्म-चक्र के पाश में जकड़ा है। उससे मनुष्य का छुटकारा कैसे हो सकता है, जब कि ईश्वर ने ही उसे इसमें बाँध दिया है—

'संकल ही तैं सब लहैं, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटै वापुड़े, बाँधे सिरजन हार॥

कर्म का आरम्भ हुआ कि फिर उसका व्यापार आगे बराबर चलता रहता है—'माया मुई न मन मुवा'। कर्म की गति कठिन है। कर्म किसी से नहीं छूट सकता। वायु कर्म से ही चलती है। ग्रह-नक्षत्र कर्म से ही गतिशील हैं। कर्म शक्ति का नाश नहीं होता। कबीर मतानुसार कर्मचक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है, तब परमेश्वर की कृपा से ही छुटकारा सम्भव है।

(२) कबीर समाज के नेता होने पर भी व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। इस कारण व्यक्ति के कर्मों पर ही उन्होंने अधिक विचार प्रकट किया है। कबीर ने यद्यपि सांसारिक कर्मों में लिप्त न होने का आदेश दिया है, तो भी उनका उपदेश जीवन को निष्क्रिय बनाने का कभी नहीं था।

कबीर जे धंधै तो धूलि, बिन धंधे धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै में ध्याया नहीं॥

यदि प्राणी कर्मयोग में निरत है, तो वह निर्मल है। बिना कर्म के मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। हाँ, वे मनुष्य तो जड़ से नष्ट हो जाते हैं, जो कर्म करते हुए परमात्मा का ध्यान नहीं करते। इस प्रकार कबीर ने कर्मत्याग और कर्मयोग का व्यावहारिक उपदेश दिया।

यह बन रूप शरीर ही कर्म रूप कुल्हाड़ी का निर्माण करता है, जो उस के विनाश का कारण होती है। प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के कर्म का क्या स्वरूप है, जिसके कारण उसका उत्थान (मुक्ति) और पतन (आवागमन) होता है?

मीमांसकों ने कर्मों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध चार भेद किये हैं; तथा नित्य और नैमित्तिक कर्म को करने के लिए कहा है। निषिद्ध कर्म करने से पाप लगता है और काम्य कर्म करने से उनके फलों को भोगने के लिए फिर जन्म लेना पड़ता है। इसलिए उन्हें नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार निषिद्ध कर्मों के करने पर नरक और काम्य कर्म-त्याग से स्वर्गादिक सुखों के भोगने की आवश्यकता न पड़ेगी और मनुष्य नित्य तथा नैमित्तिक

कार्य करता हुआ मोक्ष का अधिकारी हो जायेगा। इस वाद को 'कर्म मुक्ति' या नैष्कर्म्य सिद्धि कहते हैं। जब किसी पाप-पुण्य का बंधन कर्त्ता को नहीं होता, तो उस स्थति को 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। सम्भवत: कबीर ने निषिद्ध और काम्य कर्मों का त्याग ही श्रेयस्कर समझा हो, जिससे नरक और स्वर्ग के दुख-सुख से विलग रह सकें—

'अगनृकथैं हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि।
चरन कवँल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतिरु आदि ॥'

मीमांसकों के मत का, अप्रत्यक्ष रूप से, कबीर की साखियों में समर्थन मिलता है, परन्तु कबीर को वेदान्त का यह सिद्धान्त भी मान्य प्रतीत होता है कि 'नैष्कर्म्य' का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं हो सकता। इस संसार में कोई क्षण भर के लिये भी कर्म करना छोड़ नहीं सकता और विषय-अनुरक्त मन तो—

'कोटि कर्म पल मैं करै, बहुमन विषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानिई, जनम गँवाया बादि ॥'

इस कारण कबीर ने भक्ति, कर्म या साधना का उपदेश दिया है, जो प्रेम स्वरूप और आनन्द स्वरूप के चरण-कमल में, आदि-अन्त से, जन्म-मृत्यु से स्वतंत्रता दिलाती है। कबीर ने अधिकारी भेद के अनुसार साधारण प्राणियों को केवल पुण्य कर्म संचित करने का उपदेश दिया, जो भविष्य में दुखों से छुटकारा दिला सके।

कर्मों के तीन स्थूल भेद हैं—(१) क्रियमाण (२) संचित और (३) प्रारब्ध। क्रियमाण जो कर्म अभी हो रहा है। मनुष्य के इस क्षण तक किया गया कर्म चाहे वह पूर्व-जन्म का ही क्यों न हो, संचित कर्म है और संचित कर्मों का भोग प्रारब्ध है। कबीर ने पुण्य कर्म संचित करने का आदेश तो दिया, परन्तु कर्म-संचय आवागमन का कारण है, ऐसा भी उन्होंने लिखा है:—

'आशा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूवे धन संचते, सो ऊबरे जे खाइ ॥'

मन प्रफुल्लित होता है कि मैं कर्म कर रहा हूँ और इस तरह करोड़ों कर्मों का बोझ सिर पर रख लेता है या संचित कर लेता है, जिसका भोग निश्चित है। इस प्रकार बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में उसे जूझना पड़ता है। फिर भी मोह से हट कर अपने भ्रम को वह नहीं देख पाता—

'कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रम ।
कोटि क्रम सिर ले चल्या, चेत न देखै भ्रम ॥'

जैसा लिखा जा चुका है, कबीर ने उसी कर्म-संचय का आदेश दिया जो भविष्य में दुख दूर करने में समर्थ हो । ऊपर उद्धृत साखी की व्याख्या इसका विरोध-सा करती प्रतीत होती है । एक ओर तो पुण्य कर्म-संचय का उपदेश और दूसरी ओर पुण्य कर्म करने पर भी मनुष्य का जन्म-मरण के चक्र में पड़ना, दोनों ही कथन विरोध की शंका खड़ी कर देते हैं । वास्तव में कबीर का पुण्य और पाप 'स्वर्ग' और 'नरक' जान लेने पर इस शंका का समाधान हो जाता है ।

पुण्य और पाप

कबीर का पुण्य कर्म है, भक्ति या निर्गुण भक्ति जिसका फल है अद्वैत या अभेद दर्शन । पुण्य कर्मों की स्थिति राम की भक्ति बिना, चाहे वे कितने ही दीर्घ काल तक किये गये हों, कुछ नहीं है—

अँनेक जग जे पुन्नि करैं, नहीं राम बिना ठाऊँ ॥'

राम स्मरण करोड़ों कर्मों का फल क्षण भर में देता है, जिससे कर्मों का भोग दूसरे जन्म की प्रतीक्षा नहीं करता ।

कबीर का ज्योतिस्वरूप अदृष्ट तो पाप-पुण्य के परे है, कबीर को उसी की आकांक्षा है—

अगम अगोचर गमि नहीं, जहां जगमगै जोति ।
जहां कबीरा बंदिगी, (तहां) पाप पुण्य नहीं छोति ॥'

नरक और स्वर्ग

इसी पाप-पुण्य का भोग स्वर्ग और नरक की कल्पना का कारण है । यद्यपि 'परचा को अंग' में परमात्मा के महल की चर्चा है, परन्तु कबीर को सम्भवतः हिन्दू पौराणिक स्वर्ग की कल्पना मान्य नहीं । इसी कारण स्वर्ग की झाँकी कबीर ने नहीं दिखाई । परन्तु साधारण भारतीय जो स्वर्ग और नरक के सुख और दुख से परिचित था । कबीर ने उसे नरक की यातना बताकर राम-भक्ति के पथ पर लाना चाहा । 'चितावणी कौ अंग' में—

'ऐके हरि के नांव बिन, बांधे जमपुर जांहि।
घणी सहैंगा सांसना, जम की दरगह मांहि॥
उस चंगे दीवांन मैं, पला न पकड़ै कोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ॥
जे को नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ।
नरक मांहि जांमै मरै, मुकति न कबहूँ होइ॥'

अतः कबीर का नरक यह मृत्यु-लोक ही है जहाँ जन्म और मरण का चक्र चल रहा है। यम, यमपुरी, चित्रगुप्त और यम के दरबार के मूल में जन-सम्पर्क की भावना ही है, क्योंकि राम की भक्ति के पथ पर साधारण मनुष्य इसी प्रकार भयभीत होकर आ सकता था। जनता के मन पर जिनका गहरा और प्राचीन संस्कार है, उन्हीं के अनुसार अपने मत को उन्हें समझाना एक शैली है, जिसका लाभ समाज के नेता उठाते रहे हैं और आज भी उठा रहे हैं। कबीर को स्वर्ग और नरक के परे केवल राम-भक्ति ही अंगीकार है—

'दोजख तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
बहिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ॥'

भाग्य

जिन कर्म फलों का उपभोग आरम्भ होने से यह शरीर मिला या संचित कर्मों में जो प्रारब्ध हो गये, उन्हें भोगे बिना मुक्ति नहीं मिलती। यही भाग्य है जो अदृष्ट है, और नियन्त्रण के परे है। कबीर इस में मनुष्य की परवशता को अनुभव करते हैं। कर्मों के इस लेख को भोगते ही बनता है—

'जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ।
रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जौ सिर कूटै कोइ।
करम करीमां लिखि रह्या, अब कछु लिखा न जाइ।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जौ कोटिक करै उपाइ॥'

परन्तु जहाँ एक रत्ती भर, तिल भर भी अपनी सत्ता और इच्छा नहीं रह पाती, वहाँ पुरुषार्थ कैसा ? कर्मयोग कैसा ? वहाँ तो दासत्व या परतंत्रता का साम्राज्य होगा । मनुष्य कितना निस्सहाय और असमर्थ है !

'कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होय ।
जे किया कछू न होत है, तौ करता औरे कोइ ॥'

सागर की एक लहर उठ कर गिरती है, परन्तु उसके बनने मिटने पर असंख्य लहरों का नियन्त्रण है । एक लहर-सा निस्सहाय मनुष्य अपनी परिस्थितियाँ स्वयं नहीं बनाता । वह परिस्थितियों की शृंखला में कड़ी मात्र ही होता है । यही भावना विचार-जगत में दौड़ लगाकर दर्शन का नियतिवाद बन जाती है । भारतीय दर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार से भाग्यवाद का समर्थन करता है । भारतीय दर्शन और संस्कृति में इसकी जड़ें गहरी हैं । भौतिक जगत में नियतिवाद प्रवंचना या पलायनवादी दृष्टिकोण हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक जगत में नियति का आधार है—मनुष्य की ससीम शक्ति की अनुभूति, आत्मसन्तोष और आस्तिकता । कबीर निश्चित रूप से नियतिवादी हैं, जिसका आधार पुरातन भारतीय संस्कृति है, जो पुनर्जन्म (कर्म का भोग और भोग का कर्म) के सिद्धान्त को स्वीकार करती है ।

पुनर्जन्म

महाभारत के शान्ति पर्व में 'कर्मणा बद्ध्यते जन्तुः' ऐसा कहा गया है । अर्थात् कर्म से प्राणी बाँधा जाता है । अज्ञान से ही मनुष्य कर्म का संचय कर चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमित होता है और आवागमन के चक्र में फँसा रहता है । "गुरुदेव कौ अंग" में उसका वर्णन है—

'निस अँधियारी कारणै, चौरासी लख चंद ।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ॥'

कबीर इस सिद्धान्त को मानते हैं कि मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता । यथा—

कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ।
मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार ।
बार बार नहिं पाइये, मनिषा जन्म की मौज ।

जो हरि भक्ति नहीं करते, वे इसका दंड अगले जन्म में पाते हैं—

'जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि ।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि ॥'

वेदान्त-सूत्रों और उपनिषदों के अनुसार कर्म लिंग शरीर के आधार से रहा करता है और जब आत्मा स्थूल देह छोड़ कर जाने लगती है, तब कर्म भी लिंग शरीर द्वारा उसके साथ जाकर उसको भिन्न-भिन्न जन्म लेने के लिये बाध्य करता रहता है ।

मनुष्य को तो अपने 'पूरबिला भरतार' या राम का परिचय प्राप्त करना चाहिये । कर्म व्यर्थ है, यदि राम की सहायता प्राप्त नहीं है—

'कबीर करणीं क्या करै, जे राम न करै सहाइ ।'

परन्तु राम-भक्ति भी तो भाग्य से ही मिलती है—

'सब घटि मेरा सांइयां, सूनी सेज न कोइ ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घट परगट होइ ॥'

कबीर को एक ही कर्म, राम की भक्ति के भरोसे, संसार रूपी नरक से मुक्ति की आशा है । कबीर तो भाग्यशाली हैं । उन्हें पूर्व जन्म के संचित कर्मों के उत्तम फल की आशा है—

'देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥'

इस प्रकार कबीर ने यदि कर्मत्याग का आदेश दिया तो कर्मयोग का भी, आशा के पुलक का अनुभव कराया तो निराशा से भी परिचय कराया और आनंद की राह दिखाई तो दुख से भी साक्षात्कार कराया । उनका कर्म-योग संसार में राम-भक्ति द्वारा संतुलित जीवन-यापन करने का था । उनका कर्मत्याग और निराशा संसार की चिर अतृप्त तृष्णा के आधार पर थी । उनकी आशा और आनन्द संसार के परे चिर चेतन की प्राप्ति में था । यही था कबीर की राह का अन्तरिक्ष के समीप आखिरी पत्थर । यही थी कर्म त्याग और कर्मयोग के दुर्गम पर्वतों के बीच की उपत्यका । यही कबीर का साध्य था, इष्ट था । यही थी कबीर की साधना ।

मन

मानव शरीर में अन्तः तथा बाह्य दो प्रकार के करण हैं। बाह्य करणों में पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का समावेश है। मन समस्त इन्द्रियों का केन्द्र और माध्यम है। भारतीय दर्शन में मन की महत्वपूर्ण विवेचना की गई है। मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। मैत्र्युपनिषद् में लिखा है:—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥'

'मनुष्य के बंधन या मोक्ष का कारण मन ही है। मन के विषयासक्त होने से बंधन और निष्काम या 'निर्विषय' अर्थात निःसंग होने से मोक्ष होता है। मन को विषय-वासना-रहित बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये, क्योंकि 'मनसैवेदमाप्तव्यं'—मन से ही वह तत्व (ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है।

कबीर की साधना मन को निवृत्ति मार्ग पर लाकर उसे भक्ति युक्त करने की है। प्रभु से अनुरक्त कबीर का मन, निर्विषय को विषय और निर्गुण को सगुण अव्यक्त बनाकर निःसंगता की ओर अग्रसर होता जाता है। यह निःसंगता, यह अनासक्ति, यह निष्कामता या फलाशा का त्याग मन को वैराग्य से दमन करने पर ही सम्भव है। इस दमन के मूल में इन्द्रियनिग्रह की भावना है, क्योंकि इन्द्रिय-तृप्ति सम्भव ही नहीं है। सुखों के उपभोग से विषय-वासना तो उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि की ज्वाला हव्य पदार्थों से तीव्र होती है। इस प्रकार के कथन वैदिक, उपनिषदीय, बौद्ध, पौराणिक आदि सभी ग्रन्थों में मिलते हैं। जर्मन शोपैनहावर के दुखवाद के मूल में यही भावना है। परन्तु केवल इन्द्रियों की वृत्ति को रोकना और मन से विषयों का चिन्तन करना ढोंग है। गीता के अनुसार तो वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो मनोनिग्रह पूर्वक काम्य बुद्धि को जीत कर सब मनोवृत्तियों को लोक-संग्रह के लिए अपना-अपना कार्य करने देता है। 'मन को अंग' में कबीर ने मन की व्याख्या और निरोध का उपदेश किया है।*

मन की व्याख्यान

कबीर ने साखियों में मनको आत्मा, चित्त और बुद्धि के रूपों में अङ्कित किया है। मन में ज्ञेय एवम् ज्ञाता का भेद समाप्त होने पर आत्मा ब्रह्म रूप हो जाता है :-

---

*यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में मन का विशद विश्लेषण है।

'मन गोरख मन गोविंदौ, मन ही औघड़ होइ ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥'

कबीर ने मन को गोरख, गोविन्द और अवधूत कहा है ।

मांडूक्य उपनिषद् के अनुसार जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन न हो और फिर विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय, उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है । कबीर का मन भी भक्ति-पथ से चलकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ।

'मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि ।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥'

अनात्मवादी बौद्ध दर्शन को भी मन के निर्विषय और निष्काम रखने का सिद्धान्त मान्य है । मन को निर्विषय स्थिति या वासना का नाश होना ही निर्वाण है । परन्तु उपनिषद्कार मन की निष्कामावस्था को आत्मनिष्ठा, ब्रह्मनिर्वाण या ब्रह्म में आत्मा का लय होना मानते हैं । कबीर इसी विचारधारा से प्रभावित हैं । वैराग्य से तृष्णा का पूर्णतः क्षय करने पर ब्रह्मस्थिति आ जाती है । आत्मा आनन्दयुक्त और राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है—

'मैमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि ।
तब सुख पावैं सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस ॥'

मन ही आवागमन का कारण है । जिस प्रकार ऊँचाई पर बरसा हुआ जल अपनी निम्नगा प्रवृत्ति के कारण निम्न प्रदेशों में फैल जाता है, उसी प्रकार आत्मा को प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न देखने की मनोवृत्ति सकाम मन या सूक्ष्म शरीर को पुनर्जन्म या आवागमन के चक्र में बहने को बाध्य करती है । कबीर कहते हैं :—

'कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह ।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूँ, गया निवांणा चालि ॥'

ऐसी ही भावना कठोपनिषद् (अध्याय २ वल्ली १) में है:—

'यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावंति ॥'

'जिस प्रकार ऊँचे स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतों में (पर्वतीय निम्न देशों में) बह जाता है, उसी प्रकार आत्माओं को पृथक्-पृथक् देख कर जीव उन्हीं को (भिन्नात्मत्व को ही) प्राप्त होता है। हृदय के अन्दर बुद्धि रूपी दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण में, उसी प्रकार निर्मल बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है।'

'हिरदा भीतर आरसी, मुख देषणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिये, जे मन की दुविधा जाइ॥'

परन्तु यदि बुद्धि रूपी दर्पण निर्मल नहीं है, तो आत्म-दर्शन नहीं होगा। बुद्धि पर मल और आवरण पड़ने का मुख्य कारण मन की संशय-ग्रसित अवस्था है। जब मन संशय-रहित और स्थिर हो जाता है, तब बुद्धि में सात्विक ज्ञान का उदय होता है और तब पुरुष को यह ज्ञात होता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। यही आत्म-दर्शन है।

मनोवृत्तियाँ

मन और बुद्धि में अन्तर है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार (व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनोव्याकरणात्मकः।) बुद्धि व्यवसाय या सार-असार विचार कर कुछ निश्चय करती है। मन व्याकरण अथवा विस्तार करता है। मन संकल्प विकल्पात्मक होता है और बुद्धि निश्चयात्मक। मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं उसके परे है, मनसस्तुपराबुद्धिः [गीता ३। ४२] बुद्धि की सहायता के बिना केवल मनोवृत्तियाँ अंधी हैं। संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, मति, भय, काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, द्वेष आदि ये सब मनोवृत्तिआँ हैं—मन ही के गुण अथवा धर्म हैं। (बृहदारण्यकोपनिषद-१-५-३)। परन्तु वे उदात्त मनोवृत्तियाँ जो निवृत्ति मार्ग को प्रशस्त करती हैं, संत-जीवन का आधार हैं :—

'मन न मारया मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, इन्द्री अजहुँ उघारि॥'

काम-क्रोध का दमन और शील, सत्य, श्रद्धा या पूज्य भाव का उदय मन की एकाग्रता की आकांक्षा रखते हैं। मन को एकाग्र करने के उपायों के विषय में प्राचीन भारत में अत्यधिक अनुसन्धान हुआ, क्योंकि सम्पूर्ण भूतों

में छिपा हुआ वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता। वह तो एकाग्र बुद्धि से ही देखा जाता है।

इस विषय पर पातंजलि ने योगशास्त्र नामक एक स्वतंत्र शास्त्र का ही निर्माण कर दिया। योगी का मन स्वभाव से ही पवित्र और विशाल होता है। मन को अन्तर्मुख कर आत्मा के स्वरूप के विषय में अनुभव प्राप्त करना ही योग का लक्ष्य है। कबीर का उपदेश भी मन को अन्तर्मुख करने का है--

'मैंमंता मन मारि रे, घट ही माँहै घेरि ।
जब ही चालै पीठि दे, अंकुश दे दे फेरि ॥'

यह है मनोनिग्रह का भाव। मन जो प्रवृत्ति परक है—बाह्योन्मुख है, उसे निवृत्तिपरक, अन्तर्मुख करना चाहिये।

यह मनोनिग्रह फलाशा-त्याग की आकांक्षा करता है—

'आसा का ईंधण करूं, मनसा करूं विभूति ।
जोगी केरी फिल करौं, यौं बिन नांवै सूति ॥'

जब मन में आसक्ति-आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तब मन उसी में ग्रसित हो जाता है। मन की आकांक्षाओं का त्याग ही श्रेयस्कर है, क्योंकि ये कभी पूरी नहीं होतीं। जल से घी निकलने की कोई सम्भावना नहीं—

'मनह मनोर्थ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ ।
पांणी मैं घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥'

मनुष्य को अपनी चित्तवृत्तियों का पूर्णरूप से दमन करना चाहिये, नहीं तो कुछ-न-कुछ वासना अवश्य शेष रह जायगी, जिससे पुनः जन्म लेना पड़ेगा और मोक्ष भी नहीं मिलेगा। मन-रूपी मत्स्य फिर संसार-सागर में लीन हो जायगा। कबीर को भारतीय दर्शन का यह सिद्धांत मान्य है—

'काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि ।
कोइ एक आषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥'

तथा—

'माया मुई न मन मुवा, मरि मरि जाय शरीर।'

अद्वैतावस्था या मोक्ष मन के संकल्प-विकल्प-शून्य होने पर ही सम्भव है, क्योंकि यह जो कुछ प्रसार या संभार है, सब मन के आधार से ही है।

मन के विभिन्न स्वरूप

साखियों में मन की विभिन्न स्वरूपों में कल्पना की गई है, जिनमें तीन प्रमुख हैं—

(१) प्रेम-रस-पान करने वाला मन, (२) संसार की ओर सहज आकृष्ट होने वाला मन और (३) भक्ति की राह में बाधक मन।

(१) प्रेम-रस-पान करनेवाला मधुकर और ढोलनहार दो रूपों में दिखाई देता है।

मधुकर—कबीर ने जिस रहस्यमय से प्रेम-केलि रचाई, उसका चरमोत्कर्ष है प्रेमप्रीति से भरे मन को परम प्रीति के एक मात्र आश्रय भगवान में लीन कर देना। कबीर का मन-भ्रमर तो केवल प्रेम से प्राप्त, विकसित, प्रकाशित अन्तर्यामी कमल पर मुग्ध है—

'अंतरि कवँल प्रकासिया, ब्रह्म वास तँह होइ।
मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जांणेगा जन कोइ॥'

सांसारिक और अलौकिक जीवन के अंतरिक्ष पर जिस प्रेम का साक्षात्कार कबीर ने किया, उस उच्चतम प्रेम ने गर्व की अनुभूति भर दी। कबीर का मन-मधुकर उसी की निरन्तर आराधना में निरत हो गया—

'कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरन्तर वास।
कवँल ज फूला जलह बिन, को देखै निज दास॥'

ढोलनहार—इस रूप में स्मृति की ढेकुली और ध्यान की रस्सी के सहारे मन प्रेम-रस को बार-बार पान करता है—

'सुरति ढेकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै वारम्वार॥'

(२) संसारोन्मुख मन को कबीर ने ध्वजा, मछली और पक्षी के रूपों में प्रस्तुत किया है।

ध्वजा—संसार की रंगीनी मन को सहज ही आकर्षित कर लेती है। सत्य पथ के पथिक कबीर का लक्ष्य 'मन दिया-मन पाइए' है, परन्तु मन तो संसार की विषय-वासना रूपी वायु के संग उड़ा-उड़ा फिरता है। कबीर कहते हैं:—

'काया देवल मन ध्वजा, विषै लहरि फहराइ।'

शरीर-रूपी देवालय पर मन-रूपी ध्वजा विषय-रूपी लहरें लेती हुइ फहरा रही है ।

मछली—

काटी कूटी मछली, छीकै धरी चहोड़ि ।
कोई एक आषिर मन बस्या, दह में परी बहोड़ि ।।

पक्षी—

'कबीर मन पक्षी भया, बहुतक चढ्या अकास ।
उहाँ ही तैं गिरि पड्या, मन मायाके पास ।।'

(३) भक्ति की राह में बाधक मन चोर और हाथी दो रूपों में वर्णित हुआ है ।

भक्ति की सँकरी गली में चंचल मन चोर की भाँति है—

'कबीर सेरी सांकड़ी, चचल मनुवां चोर ।
गुण गावै लैलीन होइ, कछू एक मन मैं और ।।'

तथा 'भेष कौ अंग' में—

'मन मैवासी मूड़ि ले, कैसे मूड़े कांइ ।
जे कुछ किया सु मन किया, केशौं कीया नांहि ।।'

हाथी—

'भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ ।
मन तौ मैंगल ह्वै रह्यौ, क्यूं करि सकै समाइ ।।'

इस मदमत्त मन को मार डालना चाहिये, तभी ब्रह्म दर्शन होगा:—

'मैमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि ।।'

इसी प्रकार मन को कहीं अश्व और कहीं मृग कहकर उसे आत्मपथ पर लाने का उपदेश दिया गया है ।

सद्गुरु

आत्मपथ के जिज्ञासु युग-पुरुषों के व्यक्तित्व के आलोक में पुरातन और मध्ययुगीन संस्कृतियाँ गतिशील होती रहीं हैं। सभ्यता जब एक नेतृत्व की आकांक्षा

करती है, तब अवतार या पैगम्बर के रूप में कोई महान चेतना अवतरित होकर इस गौरव को सँभालती है। कालान्तर में वह ज्योतिर्मय चेतना समाज को नई मान्यतायें देकर, आलोक से भर कर, तिरोहित हो जाती है। अनेक शताब्दियाँ उसी प्रकाश में स्तब्ध रहती हैं। परन्तु समाज-सागर में फिर उफान आता है और यह उफान ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करता है, जो प्रगति के पथ पर जनता का नेतृत्व करते हैं। आध्यात्मिक पथ का नेतृत्व करने वाला 'सद्गुरु' की उपाधि से विभूषित होता है। अविवेक की रात्रि में सद्गुरु दीपक-ज्योति की भाँति कार्य करता है। इस दीपक से दूसरे दीपक भी जल उठते हैं और निरंतर दीपक प्रज्वलित करने की भी सम्भावना बनी रहती है। सन्त कबीर की भावनाओं का केन्द्र, उनके जीवन—जलयान का प्रकाश-स्तम्भ, ऐसे ही सद्गुरू का व्यक्तित्व था।

कबीर की गुरु बन्दना, उनका अव्यक्त के प्रति प्रेम, उनकी भक्ति तथा योग की साधना एक बौद्धिक तूफान लाई, जिसने जीर्ण और दुर्बल रूढ़ि पर टिके अन्धविश्वास के वृक्ष को उखाड़ फेंका। तूफान के पश्चात् वर्षा आती है। कबीर ने भी इसके पश्चात् ज्ञान और प्रेम की प्रभूत वर्षा की।

कबीर ने सद्गुरु के व्यक्तित्व को जो उत्कर्ष दिया, वह कुछ आलोचकों को खटका। उन्होंने इसे इस्लामी भावना बताया और कहा कि पीर बनने की आकांक्षा की जो लहर उस युग में फैल रही थी, कबीर भी उसी में बह गये। गुरु की महत्ता को यद्यपि सब सभ्यतायें मानती हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति में यह सर्वाधिक मान्य है। कबीर ने जो सद्गुरु को उत्कर्ष प्रदान किया, वह शुद्ध रूप से भारतीय भावना है। सद्गुरु के लिबास में न पैगम्बर साहब हैं और न कोई अवतार।

जिससे शिक्षा ग्रहण की जाती है, वह गुरु है। कबीर का गुरु तो सद्गुरु है, जिसका प्रयोग उन्होंने दो अर्थों में किया है:— (१) ईश्वर और (२) गुरु।

सद्गुरु भाग्य की प्रबलता या प्रभु की कृपा से मिलता है:—

'जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आय।'

गहरी आस्तिकता और अटूट विश्वास प्रत्येक कार्य या घटना के मूल में ईश्वरेच्छा को मानने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

साखियों में उपदेशक के भेद, उसकी खोज, सद्गुरु का व्यक्तित्व, उसका स्मरण और दीक्षा आदि अनेक बातों का वर्णन उपलब्ध होता है।

भेद वर्णन— (१) गुरू को ज्ञानी होना चाहिए। यदि गुरू अंधा या

अज्ञानी है, जिसे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं, वह मोह-कूप में ही अपने शिष्य को डाल देगा। ज्ञानी गुरु को अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना चाहिए —

'ग्यानी तौ नीडर भया, मानै नांही संक।
इन्द्री केरे वसि पड्या, भूँजै विषें निसंक ॥'

ज्ञानी तो अपने को कर्त्ता समझ कर मूल भी खो देता है। इससे तो गृहस्थ ही अच्छा है, जो पाप-पुण्य और भले-बुरे के भेद को समझता तो है :—

'ग्यांनी मूल गँवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहै डरता ॥'

(२) स्वामी या गुरु बन कर उदर पूर्ति को ही ध्येय मान लेना अपने गौरव में बट्टा लगाना है। जिस मनुष्य के शिर पर स्वामीपना या अहंकार चढ़ा है, उसका कोई कार्य पूरा नहीं होता। सद्गुरु निरभिमानी होता है। स्वामी बनना सबको अच्छा लगता है, पर दास या भक्त होना कठिन है :— "स्वामी हूँणा सोहरा दोद्धा हूँणा दास"। संन्यास चित्त-शुद्धि के लिए लिया जाता है, परन्तु चित्त ने जिन सद्वृत्तियों से प्रेरित होकर संन्यास मार्ग ग्रहण किया, वे सद्वृत्तियाँ भी सन्यासी होने पर स्वामीपने के कारण नष्ट हो गईं। इसी कारण कबीर ने कलियुगी संन्यासी को लोभी कहा है, जो राज-द्वारों या धनी पुरुषों के द्वारों पर वैसे ही घूमता है, जैसे खूँटा तोड़ कर भागने वाली आवारा गाय। इच्छायें इतने बाँध कर रखी हैं। पैसा ब्याज पर उठाता है और उसका हिसाब रख कर साधु पूरा संसारी बन गया है। सद्गुरु ऐसा नहीं होता। वह तो साधक की नाव का केवट होता है।

कबीर ने गुरु के रूप में वेद-पाठी पंडितों की भी निन्दा की है। उन्होंने पंडितों को ललकार कर कहा है कि जब उनका अन्तर ही बिंधा नहीं है, हृदय ही शुद्ध नहीं है, तो दूसरों को उपदेश देने से क्या लाभ? अपने मुख पर पशुओं की भाँति मुहरका बाँध कर, ज्ञान को अपने अन्दर न ले जाकर, दूसरों को ज्ञान-दान देना परले दर्जे का पाखण्ड है :—

'पंडित सेती कहि रह्या, भीतर भेद्या नाहिं।
औरूं कौं परमोधतां, गया मुहरकां मांहिं ॥'

पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने 'कबीर' ग्रंथ में लिखा है:—'कबीर दास का पंडित वह पोथी-पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण मत के अत्यन्त निचले स्तर का नेता है'। कबीर ने केवल बाह्याचारों का ही खंडन नहीं किया, वरन् वेदों के तत्व या निष्कर्ष प्रेम का भी प्रतिपादन किया। वेद पढ़कर भी यदि भक्त न हो सका, तो जीवन व्यर्थ है। वह ब्राह्मण जगत का गुरु भले ही बने, पर साधु-संत का गुरु नहीं हो सकता—

'बांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउ बेदा मांहिं॥'

रट्टू पंडितों को भी कबीर ने उपदेशक न बनने को कहा है, क्योंकि बिना अर्थ समझे सुग्गे की भाँति पाठ को रट लेने का कोई महत्व नहीं है:—

'चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहिं।
फिरि प्रमोधै आनकौं, आपण समझै नाहिं॥'

जो व्यक्ति स्वयं तो प्रेम और ज्ञान से शून्य है, पर दूसरे व्यक्तियों को ज्ञान-राशि वेदों और शास्त्रों की शिक्षा देता है, वह अपनी सम्पत्ति खोकर दूसरों की सम्पत्ति की रक्षा करने वाले के समान है:—

'रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत।
औरों को प्रमोधता, मुख मैं पड़िया रेत॥'

सद्गुरु की खोज

संसार में सद्गुरु की खोज एक कठिन कार्य है, क्योंकि अनेक व्यक्ति बाहर से मधुर भाषी, पर अन्दर से क्रूर कर्मा होते हैं। फिर भी ज्ञान-प्राप्ति के लिये सद्गुरु को खोजना आवश्यक है, नहीं तो एक के स्थान पर न जाने कितने घर भीख माँगनी पड़ेगी:—

'कबीर सद्गुरु नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगे भीष॥'

जो गुरु सहित होते हैं, वे ही परब्रह्म के ज्ञान को पाते हैं:—

'सगुरां सगुरां चूणिया, चूक पड़ी निगुरांह ।'

अंतर में अलेख के रहने पर भी यदि सद्गुरु से उसके रहस्य को न समझ पाया, तो आवागमन का चक्र चलता ही रहता है—

'भरम न भागा जीय का, अनन्तहि धरिया भेष ।
सतगुरु परचै बाहिरा, अन्तरि रह्या अलेष ।।'

'गुरसिष हेरा कौ अंग' में कबीर ने खोज की कठिनता का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं:—"ऐसा कोई उपदेशक नहीं मिलता, जो संसार के मिथ्या माया-मोह में आसक्त होने से बचा ले"—

'ऐसा कोई ना मिलै, हम कौं दे उपदेश ।
भौसागर मैं डूबता, कर गहि काढ़ै केस ।।'

भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला गुरु नहीं मिलता, इसीलिये सब काम-तृष्णा की अग्नि में जल रहे हैं। किसका आश्रय लिया जाये? उस परब्रह्म से परिचित करने तथा मृत्यु-भय से मुक्ति दिलाने वाला कहीं भी तो दिखलाई नहीं देता:—

'ऐसा कोई नां मिलै, सब विधि देइ बताइ ।
सुनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ।।'

संसार मृत्यु की ओर गतिशील है। एक मनुष्य के देखते-देखते संसार में न जाने कितना विनाश हो जाता है। संसार देखता ही रहता है और वह मनुष्य भी समाप्त हो जाता है। जो काल के हाथों से छुड़ा ले, इस मृत्यु लोक में क्या ऐसा कोई भी नहीं है?

सद्गुरु का व्यक्तित्व

इस संसार में सद्गुरु ही जीवन को सार्थक बनाता है। उसका व्यक्तित्व अद्भुत है, उसकी महिमा अनंत है, वह ज्ञान के नेत्र खोल देता है। कबीर ने अपनी साखियों में सद्गुरु के महान व्यक्तित्व को कई रूपों में अभिव्यक्त किया है। सद्गुरु ज्ञान का दीपक अपने सबल करों में लेकर पथ-प्रदर्शन करता है।

वह ज्ञान का दीपक शिष्य के हाथ में दे देता है। सद्गुरु के समर्थ और अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व को कबीर ईश्वर ही मानते हैं :—

'गुरु गोविन्द तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेंट जीवति मरै, तौ पावै करतार॥'

संत तुलसी ने भी गुरु और हरि में अभेदत्व का प्रतिपादन किया है—

'श्री हरि-गुरु-पद-रज कमल, भजु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि, सुख निधान भगवान॥'

उपनिषद और सन्त परम्परा गुरु और परमेश्वर में एकसी भक्ति का समर्थन करती है।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'

श्वेता० अध्याय ६

'जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी............'

सद्गुरु लुहार की भाँति है, जो शिष्य के मनरूपी लोहे को घिस-घिस कर दर्पण के समान उज्ज्वल कर देता है। सद्गुरु ब्रह्म की प्रेम-क्रीड़ा का रहस्य बताने वाला है। सद्गुरु आग लगाने वाला है। उस प्रेम-विरह की आग में मानसरोवर जल जाता है और ज्ञान के पक्षी वहाँ आकर अपना घर बना लेते हैं।

सद्गुरु कलवार रूप है, जिसकी प्रेम-मदिरा की भट्टी के पास आकर भक्त बैठते हैं। गुरु उन्हें उस प्रेम-रस से छकाता है।

सद्गुरु को सिकलीगर (शान चढ़ाने वाला) के समान होना चाहिये, जो देह को दर्पण के समान कर दे :—

'सतगुर ऐसा चाहिये, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ॥'

सद्गुरु का स्मरण:—

कबीर ने स्थान-स्थान पर सद्गुरु का स्मरण किया है। वे सद्गुरु पर बलिहार जाते हैं, क्योंकि उन्होंने अल्पकाल में ही उन्हें मनुष्यत्व से देवत्व को पहुँचा दिया।

कबीर ने गुरु से राम-नाम पाया। इसकी समता में कबीर के पास गुरु को देने के लिये क्या है, जिसे देकर वे गुरु को संतुष्ट कर सकें।

'राम नाम के पटंतरै, देवे कौं कुछ नांहि ।
क्या ले गुरु संतोपिये, हौंस रही मन मांहि ।।'

सद्गुरु ने भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर एक प्रसंग परमात्मा के प्रेम के विषय में कहा । फिर तो प्रेम का बादल घुमड़ कर समस्त शरीर पर घिर आया । सद्गुरु की कृपा से कबीर काम और कामिनी के बंधन से मुक्त रहे ।

सद्गुरु के प्रसाद से सहज शील की प्राप्ति हुई । मन स्वभावतः प्रभु-प्रेम में लीन होने की प्रवृत्ति में रँग गया । इस सहज साधना की प्राप्ति और परब्रह्म का परिचय सद्गुरु की कृपा के कारण ही सम्भव हुआः—

'तिणकैं ओल्है रांम हैं, परबत मेरैं भांइ ।
सतगुरु मिल परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ॥'

सद्गुरु की कृपा के कारण ही कबीर पाषाण-पूजक न बने, नहीं तो जंगल की नील गाय होते :—

'हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ ।
सतगुरु की कृपा भई, डार्‌या सिर थैं बोझ ॥'

सद्गुरु की कृपा के कारण ही कबीर स्वर्ग-नरक से परे हैं । ऐसी कृतज्ञता की स्वीकृति के लिए गुरु का स्मरण अत्यन्त आवश्यक है ।

गुरु-दीक्षा

दीक्षा संस्कार में गुरु-मंत्र देने के पूर्व गुरु सम्प्रदाय-भेद के अनुसार त्रिशूल, धनुष आदि लेकर शिष्य की परीक्षा लेता है । 'सतगुरु साँचा सूरिवाँ'—सद्गुरु सच्चा शूरवीर होता है । इस दीक्षा संस्कार के रूपक को लेकर कबीर ने अपने प्रेम की मर्मस्पर्शी गाथा साखियों में गाई है । इस दीक्षा संस्कार और मंत्र का विस्तृत वर्णन कबीर ने किया है ।

संस्कर्ता—सद्गुरु ने धनुष-बाण लेकर कबीर की परीक्षा ली । परीक्षा का बाण तो बाह्य शरीर को ही बेधता है । परन्तु परीक्षा के पश्चात् एक प्रीति का बाण शरीर में बिध कर रह जाता है,—

'सत गुरु लई कमांण करि, बांहण लागा तीर ।
एक जू बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ॥'

ज्ञान के धनुष द्वारा ब्रह्म-प्रेम के जिस बाण से गुरु ने शिष्य का मर्म-बेध किया, उसके स्थायी, आनन्द-मूलक, वेदनायुक्त एवं विमुग्धकारी प्रभाव का कबीर ने आग्रहपूर्वक अनेक प्रकार से वर्णन किया है :—

'अंग उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ।'

सद्गुरु का हथियार अन्तस्तल को विद्ध कर देता है । ज्यों-ज्यों हरि-भक्ति प्रभावित करती है, त्यों-त्यों तीर अन्तर को बेधता जाता है । वह बाण की नोंक कसक-कसक उठती है :—

'ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलूँ, त्यूं त्यूं लागै तीर ।
साँठी साँठी झड़ि पड़ी, भलका रह्या सरीर ॥'

फिर भी भक्त पलायन नहीं करता । इस मर्म-पीड़ा को सहता है :—

'लागै थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर ।

कबीर तो उस बाण की चोट से स्थिर हो गये । ऐसे पंगु हुए कि फिर चल ही न सके । अविचल अवस्था प्राप्त हो गई । मन की चंचलता दूर हो गई । न हँसना, न बोलना ? गहरी व्यथा है न ? उस बाण के प्रभाव से :—

'गूंगा हूवा बावला, बहरा हूआ कान ।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुरु मार्‌या बान ॥

इस स्थिरता की आकांक्षा किसे न होगी ?

गुरु-मंत्र

यह संस्कार भौतिक धनुष, बाण, हथियार का न था । गुरु के अक्षरों ने ही शिष्य को प्रभावित कर दिया । वह मायामोह के विष को शंकर की तरह पान कर गया ।

'जे बेधे गुरु अष्पिरां तिन, संसा चुणि चुणि खद्ध ।'

गुरु के अक्षर दो ही थे ।

'दोइ आषिर गुरु बाहिरा, बांधा जमपुर जाइ ॥'

जिनके बिना मनुष्य नरक की यातना सहने को बाध्य होता है, ये गुरु के कौन दो अक्षर हैं ? जिनके कारण हृदय की गहराई में प्रेम उतर गया; गहरी और तीव्र प्रेमानुभूति से शिष्य छटपटा उठा, रोम-रोम प्रेम में विह्वल हो गया, वह मन्त्र क्या था ?

यह गुरु-मंत्र और गुरु के दो अक्षर 'रा' और 'म' राम हैं, जिनके समान संसार में कोई वस्तु नहीं। तभी तो कबीर ने कहाः—

'कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ वहाइ ।
बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ ।।'

शिष्यक्रम

नाथ-पंथ में पुत्र-क्रम की अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है। कबीर ने सांसारिकता का त्याग कर ही दिया था। स्वभावतः उन्होंने शिष्य-समुदाय को एकत्र कर शिक्षा दी होगी। गुरु की शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। वे शिष्यों को भी स्वयं समर्थ और ज्ञानवान होने की सलाह देते हैं, क्योंकि-— 'कहै कबीर गुरु ग्यान थैं एक आध उबरंत। शिष्य को कठिन अभ्यास से ईश्वरानुभूति की ओर स्वयं अग्रसर होना चाहिये।' सद्गुरु स्वामी की मूठ पकड़ लेने भर से काम न चलेगा।

उपदेश

कबीर के सद्गुरु का प्रमुख कार्य, शिष्य को ईश्वरानुभूति कराना है। 'उपदेश को अंग'' में ही क्यों, समस्त कबीर वाणी में सद्गुरु कबीर के ही उपदेश संग्रहीत हैं। इनमें न केवल आध्यात्मिक वरन् व्यावहारिक शान्ति की ओर भी संकेत है। कबीर की नैतिकता का आधार आध्यात्मिकता है। उनके पाप-पुण्य आदि का विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से होते हुये भी नैतिकता की ओर अधिक झुका है।

भक्ति-पथ

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यद्यपि 'कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई,परन्तु कबीर-साहित्य का अवलोकन इस बात की पुष्टि करता है कि भक्ति की विस्तृत सुनहली खेती में योग की कटीली झाड़ी इधर-उधर संस्कारवश छिटकी हुई है। कबीर—काव्य भक्ति का स्रोत है। गोरखनाथ ने बौद्ध तंत्रवाद को छोड़कर सिद्धों के मत को शैवधर्म का रूप दिया। नाथ पंथियों की परम्परा में भक्ति का स्थान गौण था। भक्ति का प्रचार संतों ने किया। कबीर इस भक्ति-प्रवाह के शक्तिशाली अग्रदूत थे। यदि कबीर ने योगियों या नाथों से काया-साधना की अनोखी कल्पना का ज्ञान प्राप्त किया; तो वैष्णवों से अनुपम भक्ति का वरदान पाया। कबीर के गुरु रामानन्द के मत में सबसे

महत्वपूर्ण वस्तु थी भक्ति। 'वह योगियों के पास नहीं थी, सहजयानी सिद्धों के पास नहीं थी, कर्मकाण्डियों के पास नहीं थी। पंडितों के पास नहीं थी, मुल्लों के पास नहीं थी, काजियों के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्न को पाकर कबीर कृतकृत्य हो गये, भक्ति भी किसकी है—रामनाम की। 'रामनाम रामानन्द का अद्वितीय दान था।' (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी)

वैष्णव-भक्ति

रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे या नहीं, यह विवाद और अनुसंधान का विषय है; परन्तु मध्यकालीन भक्ति का उत्कर्ष दक्षिण भारत में हुआ, यह निश्चित है। विशिष्टाद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत सम्प्रदायों ने शांकर सम्प्रदाय के मायावाद को स्वीकार न कर, दृश्य जगत की सत्यता पर विश्वास कर, व्यक्त की उपासना की स्थापना की। इन तीन सम्प्रदायों ने भक्ति का समर्थन करने के लिये अद्वैत और मायावाद का विरोध किया। महाराष्ट्र के साधु सन्त ज्ञानदेव आदि ने भक्ति का समर्थन, मायावाद और अद्वैत को स्वीकार करके किया। उनके मत से भी मोक्ष-प्राप्ति का सबसे सुगम साधन भक्ति है। इसी परम्परा में कबीर आदि संत भक्ति का आलम्बन निर्गुण या अव्यक्त को मानकर चले। जिन मधुर भावों की प्रेरणामयी पुष्पाञ्जलि कबीर ने भक्ति के उन्माद-शिखर पर पहुँच कर चढ़ाई, वह जनता की आँखों में कौतूहल-सा बनकर भूल गई। उस शिखर पर रहस्य की यवनिका ने दृष्टि में जिज्ञासा भर दी। साहित्य के आलोचकों ने इसे वाद का रूप देकर शास्त्रीय ढंग से परिभाषा की और इस जिज्ञासा को रहस्य की उपत्यका में ढकेल दिया। इस रहस्य में वैष्णवों का माधुर्य भाव है।

नवधा-भक्ति

वैष्णव धर्म के आधार-ग्रंथ श्रीमद्भागवत में नवधा-भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥'

'प्रभु के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणों की सेवा, पूजन और वंदन, प्रभु के ऐश्वर्य के सम्मुख झुक जाना, प्रभु को सखा समझना और अपनी

आत्मा को खोल कर प्रभु के सम्मुख रख देना, यह नौ प्रकार की भक्ति है।' दशवीं प्रकार की भक्ति प्रेम-लक्षणा है, जिसकी अनुभूति कबीर ने रामानन्द से प्राप्त की।

भक्ति तो भगवद्विषयक प्रेम या रति को कहते हैं। यह भक्ति प्रारम्भ से ही प्रभु को सगुण मानकर चली। अन्यथा नवधा या दशधा भक्ति कैसी ? निर्गुणो-पासक कबीर का उपास्यदेव भी सगुण है। कबीर की रचनाओं में नवधा-भक्ति के पर्याप्त उदाहरण हैं—

गुणगान—कबीर वैष्णव थे। उन्होंने अपने निर्गुण प्रभु का भी गुणगान किया। उनका प्रभु निर्गुण है, परन्तु अपने ही गुणों से युक्त होने के कारण सगुण भी है। कबीर कहते हैं—सातों समुद्रों की मसि और समस्त बन-राजि को लेखनी तथा धरणी को कागज बनाकर भी यदि उसके अपार गुणों को लिखा जाय, तो वे गुण लिखे नहीं जा सकते :—

'सात समन्द की मसि करौं, लेखनि सब बन राइ ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरिगुण लिख्या न जाइ ॥'

(समर्थाई कौ अंग)

उस प्रभु के बहुत से गुण हृदय में अंकित हैं। इसी कारण तो कबीर संसार का जल (माया) नहीं ग्रहण करते। यह जल अन्दर पहुँच कर उन गुणों को धोकर बहा जो देगा:—

'गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि ।
डरता पाणीं नां पीऊं, मति वे धोये जांहि ॥'

कीर्तन— कबीर भगवान का कीर्तन ज्ञान से करते हैं, अन्ध-विश्वास से नहीं—

'करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड ।
जांणैं बूझै कुछ नहीं, यौंही अंधा रूंड ॥'

स्मरण— प्रभु का स्मरण, जब तक जग में जीवन है, तब तक करना चाहिये—

'कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥'

चरणसेवा—रूप-हीन निराकार प्रभु के चरणों की कैसी सेवा? परन्तु कबीर ने उसके चरणों की सेवा की। वे तो हरि-चरणों के ध्यान से अमर हो जाने का विश्वास करते हैं :—

'हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ।'

कबीर उसके चरणों का सामीप्य पाकर माया-मोह से छूट गये :—

'कबीर हरि चरणैं चल्या, माया मोह थैं टूटि।
गगन मँडल आसण किया, काल गया सिर कूटि॥'

कबीर ने चरण-सेवा लाक्षणिक अर्थों में प्रकट की है।

पूजा और बंदना—

'देवल माहैं देहरी, तिल जेहैं बिस्तार।
माहैं पाती मांहि जल, माहैं पूजणहार॥'

प्रतिमा पूजन और तीर्थ—कबीर ने पाषाण का पूजन नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवाद या ज्ञानमार्ग का आश्रय लिया। तो भी वे भक्ति और प्रेम से परमात्मा की उपासना करते रहे। अज्ञान की नींद में सोते समाज को झकझोर कर कबीर ने उठाने का प्रयत्न किया। प्रतिमा-पूजन का विरोध करना कबीर ने मुसलमानों से नहीं सीखा। भारतीय परम्परा ही अन्ध प्रतिमा-पूजन का विरोध करती रही है। 'शिव धर्मोत्तर पुराण' में लिखा है :—

'शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
आत्मस्थं यः परित्यज्य बहिःस्थं यजते शिवम्॥
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिह्यात्कूर्परमात्मनः।
सर्वत्रावस्थितं शान्तं न पश्यन्तीह शंकरम्॥'

योगी जन शिव का आत्मा में ही दर्शन करते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। जो पुरुष आत्मा में स्थित शिव का परित्याग कर बाह्य शिव-पूजन करता है, वह मानों हाथ का ग्रास गिराकर केवल अपनी हथेली चाटता है।' कबीर योगी थे, योगी ही नहीं, भक्त और योगी का अपूर्व सामंजस्य। तर्क के आधार पर प्रतिमा-पूजन या प्रतीक-पूजन का औचित्य दिखाया जा सकता है, परन्तु मूर्ति-पूजक का निरीह अन्ध विश्वास एक दूसरी ही बात है, जिसका खंडन कबीर ने किया। जन-जन तो पत्थर के पुतले को ईश्वर समझ बैठा है :—

'पाहंण केरा पूतला, करि पूजैं करतार ।'

उस पत्थर का कैसा पूजन ? यहाँ तो प्रतीक ही परमात्मा बन बैठा है :—

'पाहन कूं का पूजिये, जे जनम न देई जाब ।
आंधा नर आसा मुंपी, यौंहीं खोवै आव ॥'

दुनियाँ देवालयों में सिर नवाने जाती है, परन्तु हृदय के भीतर जो भगवान का वास है, कबीर तो उसी में ध्यान लगाये हैं । कबीर तीर्थों में जाकर उसका दर्शन पूजन नहीं करते । मथुरा, द्वारका, जगन्नाथ किसी भी तीर्थ में जाने से क्या फल मिलेगा ? 'हरि की भक्ति के बिना सब निस्सार हैं । तीर्थ और देवालय तो अपने ही अन्दर विद्यमान हैं' :—

'आत्मस्थं तीर्थ मुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ॥'

'जो पुरुष आत्मस्थ तीर्थ को त्यागकर बाह्य तीर्थादि में जाता है, वह मानों अपने हाथ का महा रत्न गिराकर काँच ढूँढ़ता फिरता है ।' कबीर तो उस देवालय में पूजन के लिये जाना चाहते हैं, जिसकी कोई पार्थिव नींव या आधार नहीं है और उस देव की पूजा करना चाहते हैं, जो शरीर-रहित, अलख और निराकार है:—

'नींव बिहूँणा देहुरा, देह बिहूंणा देव ।
कबीर तहां विलंबिया, करे अलष की सेव ॥'

समर्थता की अनुभूति—कबीर प्रभु के ऐश्वर्य तथा उसके सामर्थ्य के सम्मुख नत मस्तक हैं । उनकी गहरी आस्तिकता उनको भाग्यवादी बनाती है:—

'सांईं सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नाहिं ।
राई थैं परवत करै, परवत राई मांहि ॥'

सख्यभाव—कबीर का प्रभु उनका सखा है, मित्र है । ज्ञान से भजन करने वाले महापुरुष भी जिसे न जान सके, केवल भक्ति के बल से कबीर ने उसे अभिन्न मित्र बना लिया:—

'जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ।'

आत्मनिवेदन—ज्ञानी कबीर का आत्मनिवेदन और दैन्य महत्वपूर्ण है :—

'तो-तो करें त बाहुड़ौ, दुरि दुरि करै तो जांउँ ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥'

'भक्ति का मूल तत्व ही महत्व की अनुभूति है । इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की अनुभूति का उदय होता है।' कबीर ने प्रभु के महत्व का वर्णन सांसारिक दंभ-अभिमान, छल-कपट त्यागकर किया । उनके आत्मनिवेदन में ज्ञान की भावना सजग रहती है, जो उनकी निर्द्वन्द्व अवस्था का परिचायक है । इसी निर्द्वन्द्वता में उनकी अनन्यता है ।

अनन्य भक्त—'वियोगी हरि' तुलसी को परम भक्त और अनन्य रसिक वैष्णव कहते हैं । किसी-किसी मत से वे अनन्य वैष्णव इस कारण से नहीं माने जा सकते कि उन्होंने अन्य देवी देवताओं का भी यशोगान किया । अनन्यता का विशुद्ध अर्थ यदि समझ में आ जाये, तो यह प्रश्न ही न उठे । अनन्य भक्त अपने इष्टदेव को सर्वत्र देखता है । पवित्र कुल-ललना की तरह उसे अपना एक आराध्य प्रियतम ही जहाँ-तहाँ दृष्टि में आता है । वह गणेश, शिव, देवी आदि को भी प्रियतम के ही भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है ।' कबीर एक ही सम्प्रदाय और हिन्दू जाति के आराध्य के अतिरिक्त, अन्य सम्प्रदायों और मुसलमानों के निराकार खुदा या अल्लाह की भी अभेद दृष्टि से भक्ति करते हैं; क्योंकि उन्होंने परमात्मा को सर्वत्र पाया था और नामों के पर्दे उठाकर देखे थे । वे जाति-पाँति के परे अनन्य भक्त और परम वैष्णव थे ।

प्रेम लक्षणा भक्ति—कबीर ने प्रभु का यशोगान भी किया, उसके चरणों में आत्मसमर्पण भी किया और आत्मनिवेदन भी । उनका प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम बेजोड़ है । प्रेम ने ही उनके व्यक्तित्व में माधुर्य और रहस्य भाव की सृष्टि की । इस प्रेम में—भक्ति की पवित्र गंगा में—बाढ़ आई और नीच-ऊँच, वर्ण, धर्म, समाज की मर्य्यादा आदि सब प्रवाहित हो गये । रामानंद भले ही वैधी भक्ति के प्रचारक और उपासक हों, परन्तु कबीर तो दूसरे ही प्रकार की भक्ति, रागानुगा भक्ति लेकर चले, जो राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है । रागानुगा भक्ति दो प्रकार की है—(१) कामरूपा और (२) सम्बन्धरूपा । दूसरी भगवान और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य और (४) दाम्पत्य । कबीर ने सम्बन्धरूपा भक्ति अपनाई । उन्होंने दास की भाँति उसके चरणों की सेवा की प्रबल आकांक्षा अपनी

साखियों में प्रकट की है। सख्य भाव का वर्णन इसी अध्याय में और वात्सल्य भक्ति का वर्णन परमात्मा शीर्षक अध्याय में हो चुका है। अब शेष है दाम्पत्य। यह दाम्पत्य भाव ही माधुर्य और सर्वश्रेष्ठ रस का आधार है। माधुर्य भाव से संयुक्त प्रेमी जड़ देह में वास करता हुआ भी, भावना की दशा में सिद्धरूप में निवास करता है, पर लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। कबीर के इस मधुर रस ने जीवन के प्रति राग नहीं, विराग सिखाया; प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति का पथ प्रशस्त किया। उनकी भावना लौकिक प्रतीत होते हुए भी लोकातीत है। उनकी शृंगारिक मादकता में भक्त की विह्वलता और पूजा की पवित्रता है।

स्वकीया प्रेम—कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान और शास्त्र का खंडन किया; परन्तु मर्यादा का ध्यान रक्खा। शास्त्रीय एवं भावना-प्रधान मार्गों से प्रभावित बंगीय कवियों ने परकीया प्रेम को अपनाया। 'बंगाल के आउल बाउल और सहजिया पंथ प्रेममूलक साधना और परकीया को लेकर चले।' कबीर की साधना भी प्रेम-मूलक थी, परन्तु वे स्वकीया प्रेम को लेकर चले। यह प्रेम, भक्तियोग सिद्ध हो जाने पर ही प्राप्त होता है।

दुःसाध्य भक्ति योग

भक्ति-योग की प्राप्ति कठिन है। भक्ति का द्वार तो राई के दशमांश भाग के समान सूक्ष्म है। अहंकारी का प्रवेश उसमें सम्भव ही नहीं है:—

'भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तौ मैंगल ह्वै रह्यो, क्यूँ करि सकै समाइ॥

भक्ति-साधना शूर ही कर सकता है। इस पथ पर वही चल सकता है जो पूर्ण आत्मोत्सर्ग करता है:—

'भगति दुहेली राम की, नहि कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥'

भक्ति-पथ पर चलना, तलवार की धार पर चलने के समान है:—

'भगति दुहेली राम की, जैसि खाँडे की धार।
जे डोलै तो कटि पड़ै, नहीं तो उतरै पार॥'

भक्ति अग्नि–पुंज है:—

'भक्ति दुहेली राम की, जैसि अगिन की झाल ।'

तुलसी ने भी भक्ति को कष्ट-साध्य बताया है :—

'रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार जानै सो जेहि बनि आई ।'

अभ्यास और वैराग्य का मार्ग दुर्गम ही है। इसी ओर कबीर और तुलसी ने संकेत किया है।

सहज साधन

यदि कबीर और तुलसी ने भक्ति को दुःसाध्य बताया है तो उसे सहज भी कहा है :—

'रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी, सो त्रयताप कोप भयहारी ।'
(विनय पत्रिका)

'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा ।'
(रामचरित मानस)

भक्ति तो प्रभु की कृपा से सम्भव है। कृपासाध्या भक्ति सरल ही होगी। कबीर का सहज मार्ग भी इसी ओर संकेत करता है। निष्काम बुद्धि या स्वाभाविक सरल वृत्ति से भक्ति-मार्ग सहज या सुलभ हो जाता है। जो मनुष्य हृदय के द्वार उन्मुक्त कर तथा प्रभु की अनुमति ग्रहण कर सहज ही विषय-वासना त्याग देते हैं, उन्हें भक्ति प्राप्त हो जाती है। 'सहज को अंग' में इसी का वर्णन है। यह भक्ति मार्ग सहज अवश्य है, परन्तु इसके लिए ज्ञानेन्द्रियों को अधिकार में रखना नितांत आवश्यक है। तुलसी भी मन की प्रताड़ना करते हुए कहते हैं :—

'भलो भली भाँति है, जो मेरे कहे लागि है ।
मन राम–नाम सों, सुभाय अनुरागि है ।'

'हे मन ! यदि तू मेरे कहने पर चलकर स्वभाव से ही श्रीराम नाम से प्रेम करेगा, तो तेरा सब प्रकार से भला होगा।' स्वभाव से ही अनुराग प्राप्त कर लेने पर पुत्र, धन, कामिनी और काम सबका मोह अपना अस्तित्व खो देता है। तभी भक्त और राम का ऐक्य होता है। भक्ति योग की सिद्धि होती है। जब

मनुष्य स्वभाव से ही हरि-प्रेम में रँग जाये, तभी भक्ति-पथ का सुगम होना सम्भव है।

रहस्यवाद

साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार रहस्यवाद उस मन:प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जो अव्यक्त और सर्वव्यापी परब्रह्म से परिचित होने के लिये प्रयास करती है। यह प्रवृत्ति मन का गुण है। इसका प्रकाशन काव्य में होता है। यह प्रयास जिस भाव-साधना के सोपानों से अग्रसर होता है, वह एक उच्च स्तर की मानसिक स्थिति होती है। यह स्थिति साधारण जन के लिये रहस्य है।

यह काव्य-गत रहस्यवाद केवल दिव्य प्रेम और सौंदर्य को लेकर चला है। प्रेम में भावुकता के आधार पर विश्वात्मा की अनुभूति होती है। और सौंदर्य-बोध में मानव-मन का सहज रहस्य, कौतूहल और एक अनजान प्रेरणा है। प्रेम और सौंदर्य के बिना रहस्यवादी की कोई स्थिति नहीं। दर्शन और प्रकृति के रहस्य का क्षेत्र भी काव्य का रूप धारण कर उस चिर चेतन की झाँकी दिखाता हुआ रहस्यवाद की कोटि में आ जाता है।

कबीर के भावों का आलम्बन प्रेम स्वरूप और सौंदर्य का अजस्र स्रोत परम प्रभु ही है। वे उसी के रहस्य को खोलने में लगे रहे। यह आलम्बन मनुष्येतर एवं अव्यक्त है। तुलसी और सूर के भावों का आलम्बन मनुष्य (अवतार) है। जो व्यक्त है, उसके प्रति उद्गार रहस्य की परिधि में नहीं आते। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी ने शंका की थी—'अव्यक्त की जिज्ञासा का ही कुछ अर्थ होता है, उसकी लालसा या प्रेम का नहीं।' परन्तु कबीर का अव्यक्त प्रेम और प्रीति का विषय है। रहस्यवादी का प्रियतम अलौकिक होता है। रहस्यवादी कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। वह अपने प्रेम को लौकिक दाम्पत्य प्रेम का रूपक देकर चित्रित करता है। इसमें उसकी आत्मानुभूति छिपी रहती है, प्रेम की तीव्रता होती है तथा व्यंजना की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता है।

प्रतीकात्मक शैली और रहस्यवाद

केवल प्रतीकात्मक शैली ही का काव्य रहस्यवाद की कोटि में नहीं आता। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, गूढ़ भावों की यथेष्ठ व्यंजना सम्भव नहीं। इसीलिए रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग

अनिवार्य रूप में पाया जाता है । पर प्रतीकों के प्रयोग की प्रत्येक दशा रहस्यवाद नहीं कहलाती । नीचे लिखे दोहे में बढ़ई मृत्यु का, तरुवर शरीर का और पक्षी आत्मा का प्रतीक है :—

'बाढ़ी आवत देखि कर, तरुवर डोलन लाग ।
हमैं कटै की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥'

इस दोहे में कम्पित वृक्ष से वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है और सांसारिक जीवन की नश्वरता प्रकट हो जाती है । इस दोहे की शैली प्रतीकात्मक है, पर इसमें रहस्यवाद नहीं है । कबीर ने इस शैली में अनेक दोहे लिखे हैं, पर वे सब रहस्यवाद की कोटि में नहीं आते । कबीर में विचित्र अन्योक्तियाँ और रूपक मिलते हैं, जिनकी परम्परा सिद्धों में शताब्दियों से चली आती थी । कबीर ने शैलीगत कथन का अनूठापन इसी परम्परा से ग्रहण किया ।

चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद भावना के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद बन जाता है । इसमें द्वैत एवं अद्वैत दोनों का आभास रहता है । द्वैत की स्थिति विरह की अनुभूति के लिये आवश्यक है, और अद्वैत का आभास मिलन की इच्छा का आधार है । विरह की अनुभूति में रहस्यवादी पागल जैसा हो जाता है । कबीर लिखते हैं :—

'राम वियोगी न जियै, जियै त बौरा होय ।'

(विरह कौ अंग)

पर जब मिलन की बेला आ उपस्थित होती है, साधक जब अपने साध्य इष्ट देव की बाँकी झाँकी देखने लगता है, तो फिर चुप हो जाता है, क्योंकि वह दैवी अलौकिक शोभा की झलक कथन का विषय ही नहीं है । वह तो अनिर्वचनीय है । जैसा कबीर ने कहा है:—

'पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे कूं शोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥'

(परचा कौ अंग)

प्रभु का परिचय, इष्ट देव का साक्षात्कार, प्रियतम का दर्शन कितना आत्मोल्लासकारी है—अन्तर के तार-तार को कितने वेग से झंकृत करने वाला है—इसका वर्णन नहीं हो सकता । इस तेज को सामने उदित हुआ देखकर साधक की आत्मा उससे इतनी अधिक अभिभूत हो जाती है कि फिर उसे अपनी पृथक् सत्ता का आभास भी नहीं हो पाता । यह आत्मा और परमात्मा के एकीकरण की अन्तिम अवस्था

है। कबीर ने अपनी सहज प्रज्ञा अथवा अनुभूति के आधार पर इन सभी अवस्थाओं का उल्लेख किया है। ज्योति-दर्शन का तो वे बार-बार वर्णन करते हैं। खेचरी मुद्रा से उत्पन्न अमृत-स्राव, सौरभ, कमलदल का विकसित होना, शून्य में स्नान करना आदि अनेक सिद्धियों की भी उन्हं ने सूचना दी है, जो हठ योग के अन्तर्गत आती हैं। फिर इस पथ पर चल कर वे किस प्रकार पवित्र बने रहे, अपनी 'चुन्दरी' को उन्होंने ज्यों की त्यों रखने में कैसे सफलता प्राप्त की—ये बातें भी उनके पदों में अभिव्यंजित हुई हैं। साधारण साधक के लिये यह सब रहस्यमय है। 'उलट बासियाँ' कथन का एक प्रकार हैं, पर वे भी रहस्य का सृजन करने में सहायक हुई हैं। पर रहस्यवाद की वास्तविक भूमिका तो 'उलट धार' से प्रारम्भ हुई है, जिसमें संत कबीर ने साधक को प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर निवृत्ति पथ पर चलने के लिये आमंत्रित किया है। मन की जो धारा बाहर की ओर है, उसे उलट कर अन्दर की ओर कर दो, तभी उस रहस्यमयी भाव-भूमि में प्रवेश हो सकेगा।

सृष्टि का रहस्य

कठोपनिषद् का ऋषि कहता है—

"यदे वेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥"

जो तत्व इस देह में है, वही देहादि से परे भी है और जो परे है, अन्यत्र है, वही इसमें है। जो यहाँ नानात्व देखता है, वह मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो अन्दर है वही बाहर भी है। रहस्यमय प्रभु जैसा अन्दर है वैसा ही बाहर है। आन्तरिक और वाह्य सृष्टि एक जैसी है। इसी कारण रहस्यवादी जहाँ परमात्मा को अन्दर देखता है, वहाँ उसकी अखंड सत्ता को समस्त सृष्टि में भी अनुभव करता है। यह सर्वात्मवाद, परम तत्व निरूपण की भारतीय जिज्ञासा का निष्कर्ष है। अव्यक्त और सर्वव्यापी का परिचय रहस्यवादी समस्त ब्रह्माण्ड में पा लेता है। ज्ञान-क्षेत्र का जिज्ञासु भी इस अद्भुत परिचय को पाकर भावनाओं से उमड़ पड़ता है। तब वह भाव-क्षेत्र में प्रवेश कर रहस्यवादी प्रतीत होने लगता है। आकाश की गतिविधि का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक के लिये जलते-बलते नक्षत्र आज जितने रहस्यपूर्ण हैं, कल जब वह चंद्र को अपना उपनिवेश बना लेगा, फिर मंगल को, फिर किसी अनजान नक्षत्र को, तब इन रहस्यपूर्ण नक्षत्रों के रहस्य का उद्घाटन करते-करते रहस्य के हिमालय की उठते जाने की ही सम्भावना करने लगेगा। जिसे वह रहस्य-प्रदेश की सीमा

समझे बैठा है, उससे भी सुदूर अंतरिक्ष के होने की उसे आशंका होने लगेगी। यही है रहस्य का रहस्य, जिसे जाग्रत, चेतन मन की असीम और अद्भुत शक्ति स्तर-स्तर खोलती जाती है। निष्क्रिय शक्ति जिसे रहस्य कह कर सम्बोधित करती है, वह उसके लिये हस्तामलकवत् हो जाती है। रहस्योद्घाटन के लिये वैज्ञानिक की बुद्धि यत्नशील होती है और साहित्यिक की भावना। यद्यपि यह रहस्य की संज्ञा साहित्यिक है, परन्तु रहस्य तो परमकवि (वैदिक ऋषि परमात्मा को कवि भी कहते हैं) के काव्य (सृष्टि) के विस्तार से सम्बंधित है। सूफी रहस्यवादी कवि जायसी ने प्रकृति में उसके आभास का चित्रण किया। कबीर बहिर्मुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी अधिक थे। उन्होंने सृष्टि में उसकी सत्ता का अनुभव किया, परन्तु अन्तस्थ आत्मज्योति का साक्षात्कार उनका परम लक्ष्य था।

रहस्यवादी के विश्वास

'आत्मा के सर्ग' में कह चुके हैं कि—'मनुष्य के इस अनुभव ने कि वह किसी व्यापक चेतना का अंश रूप है—पुरुष और स्त्री के आध्यात्मिक सम्बंध को जन्म दिया। मध्ययुगीन समाजगत नियमों से स्त्री पुरुष की प्रेम-भिक्षा पाने और समस्त भावनाओं का समर्पण, उसके चरणों में करने को लालायित बनी रही। दर्शन में यह रूपक सब प्रकार से समर्थ परमात्मा को पुरुष और उसके आश्रित जगत को स्त्री रूप प्रकृति मान कर चला।' दर्शन के इस विचार को ग्रहण कर भावुकता ने माधुर्य भाव को जन्म दिया। वैष्णव और सूफी दोनों की उपासना में माधुर्य भाव है। सूफ़ी मत में जीवात्मा पुरुष बनकर स्त्री रूप परमात्मा के लिये तड़पता है। वैष्णव परमात्मा की प्रियतम के रूप में कल्पना करता है। वैष्णव मीरा के लिये केवल एक पुरुष है—कृष्ण, और कबीर के लिये एक पुरुष है—राम। मीरा सगुणोपासना से आरम्भ कर जिस स्थल पर पहुँचती है, उसी स्थल पर कबीर निर्गुणोपासना से पहुँचते हैं। कबीर की साधना वैष्णव है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि कबीर सूफी प्रेम-पीर से दामन बचाते रहे हों या भारतीय प्रेम-साधना को शास्त्रों में खोजते रहे हों। साखियों में किसी भी स्थल पर सूफ़ी प्रेरणा मानने के पहले विचार की आवश्यकता है। 'विरह कौ अंग' की एक साखी में वे कहते हैं :—

'मूये पीछे मत मिलौ, कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया, फिर पारस केहिं काम॥'

इसका अर्थ एक लेखक ने इस प्रकार किया है:—"कबीर ने सूफी भावना से प्रेरित होकर यह दोहा लिखा है। कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबंध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। तथा कबीर ने इस दोहे में खुल्लमखुल्ला जन्मांतर माना है।" यह ठीक है कि रहस्यवादी जन्मान्तर में विश्वास करता है; पर कबीर के जन्मांतर पर विश्वास करने का आधार भारतीय भावना है, कोई सूफी रहस्यवादी प्रेरणा नहीं। फिर कबीर जन्मांतर पर विश्वास करते हैं, तब शरीर के मिट्टी में मिलने से क्या? आत्मा तो जीवित ही रहेगी। यहाँ दूसरी पंक्ति तो दृष्टान्त रूप में है। कबीर शरीर को सोना बनाना नहीं चाहते। यह जीवन या शरीर तो स्वयं ही स्वर्ण रूप है, परन्तु राम के बिना आटे की लोई की तरह निरर्थक हो जाता है :—

'हँसी आटा लूंण ज्यूं, सोना सवाँ शरीर।'

जो कबीर के रहस्यवाद पर सूफ़ी सम्प्रदाय का प्रभाव मान कर चलते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि कबीर के विचार और भावनाओं—जैसे संसार की क्षण भंगुरता, आराध्य की रूपहीन सत्ता या पति के रूप में अव्यक्त परमात्मा की भक्ति—का क्या आधार है? ज्ञान का अंश वेदान्त मान लेने पर और निराकार को इस्लामी ऐकेश्वरवाद तथा प्रेम-पीर को सूफ़ी अंश मान लेने पर भी बात नहीं सुलझती। कबीर की भक्ति का क्या रूप है? कबीर की भक्ति निश्चित रूप से वैष्णव भक्ति से अत्यधिक प्रभावित या साक्षात् वैष्णव भक्ति ही है, जिसे प्रेमाभक्ति कहा जाता है। कबीर ने सूफ़ियों की प्रशंसा अपनी साखियों में कहीं भी नहीं की और न उनको अपना संगी ही बनाया। इसके विपरीत वैष्णवों की प्रशंसा, उन्होंने अनेक स्थानों पर की है और उन्हें अपना संगी बताया है। कबीर का दिव्य आभास या ज्ञान हाल (आवेश या मूर्छा) से नहीं उत्पन्न हुआ। उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुसार हठ योग की शारीरिक क्रियाओं को अपनाकर तथा वैष्णव गुरु से प्रेम भक्ति की प्रेरणा पाकर अपने ज्ञान और प्रेम का विकास किया था। हमें तो उनकी रचनाओं में यही वैष्णव प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्रेम

मानव-मन को स्पर्श कर, उसमें गति भरनेवाली एक प्रबल भावना प्रेम है। पति-पत्नी में रति, पिता-पुत्र में वात्सल्य और गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा के मूल में प्रेम है। प्रेम-भावना लेकर काव्य सर्वोत्कृष्ट स्थान ग्रहण करता है। प्रेम-भाव

लेकर जीवन सफल हो जाता है। जिनके हृदय में प्रेम नहीं, वे संसार में निरर्थक हैं। जिन्होंने प्रेम का अर्थ नहीं समझा, उसकी समर्थता नहीं जानी, उनके लिये संसार निर्जन है, नीरस है:—

'कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव॥

कबीर में प्रेम की यह भावना अत्यन्त उच्चकोटि की है। उनका अन्तस्तल प्रेम से ओतप्रोत है। उनकी आत्मा प्रेम की वर्षा से आर्द्र है। प्रेम का बादल कबीर के मन के आँगन में घटा की भाँति छाया हुआ है:—

'कबीर बादल प्रेम का, हम परि वरष्यां आइ।
अन्तरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ॥'

जिस प्रेम के बाण से उनका अन्तर एक बार बिंध गया, उसी प्रेम बाण से विद्ध होने की अभिलाषा कबीर बार-बार करते रहे। उन्हें प्रेमानुभूति प्रकाशरूप एवं परमार्थ-प्रवेशिका प्रतीत हुई। उसके बिना उन्हें सुख कहाँ?

'जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सचु पाऊँ नहीं॥'

तीव्र प्रेमानुभूति की ऐसी मधुमय पीड़ा ही जीवन का आधार है। मन में प्रेम की अनुभूति अंतर मे उजाला भर देती है:—

'प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अन्तर भया उजास।'

जब प्रेम परम की राह के द्वार उन्मुक्त कर देता है, तब ममता और मोह अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाते:—

'ममितां मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।'

कबीर ने इस प्रेमभाव का अनेक बार वर्णन किया है। यह प्रेमभाव आत्मा के प्रति है। इस वर्णन से कबीर का उद्देश्य शृंगार रस की निष्पत्ति करना नहीं है। कबीर में प्रेम काव्य का नहीं, आत्मा का गुण है। कबीर का लक्ष्य प्रियतम राम के प्रति, मधुर भावों की अभिव्यक्ति मात्र है। फिर भी रसों के आधार भाव ही हैं—स्थायी और संचारी। स्थायी भाव रस के मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। जो स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं, वे ही संचारी भाव हैं। कबीर में किसी काव्य रीति की खोज व्यर्थ है, परन्तु रीति-शास्त्र जिन भावनाओं पर टिका है,

उनके सहज संस्कार प्रेमी कबीर के हृदय में अवश्य हैं। कबीर की साखियों में शृंगार के अन्तर्गत विभिन्न संचारी भाव रमणीय दृश्य खण्ड प्रस्तुत करते हैं। निम्न लिखित साखियाँ विभिन्न संचारी भावों के उदाहरण के रूप में रक्खी जा सकती हैं:—

अतृप्ति—चिरकाल के वियोग के पश्चात् आत्मा परमात्मा के मिलन के समय:—

'अंक भरे भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लगि दोइ सरीर॥'

लालसा—'फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलैं, सोइ सोइ भेष कराउं॥'

व्याकुलता—'बासुरि सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिनैं माँहिं।
कबीर बिछुड्या राम सूं, नाँ सुख धूप न छाँहि॥'

पश्चात्ताप-'बिरहणि थी तो क्यूं रहीं, जली न पिव के नालिं।
रहु रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि॥'

विवशता-'आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥'

शंका—'अन्देसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियाँ।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयाँ॥'

विस्मृति-'हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमांर।
मैंमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार॥'

हर्ष—'दीठा है तो कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिष हरिष गुण गाइ॥

ये संचारी भाव कबीर के प्रेम और विरह के सुन्दर उदाहरण हैं। यह प्रेम-लीला एक घट-घट वासी के प्रति है।

नायक

कबीर का नायक चिर सुन्दर राम है। वह सब उच्च गुणों का आधार ही क्यों, विश्व-जीवन का आधार है; कबीर के काव्य का केन्द्र ही नहीं, सृष्टि-रूपी काव्य का केन्द्र है। वह बिना केन्द्र का केन्द्र है। जीवन की सारी आकांक्षा, अभिलाषा, सारा उत्कर्ष उस अशरीरी के चरणों को स्पर्श कर पुलकित होता है। उसके प्रेम की अकथ कहानी है, कौन विश्वास करेगा ? 'अकथ कहांणी प्रेम की कछू न को पतियाइ'। उसके रूपहीन अकथ रूप पर ही किसका विश्वास जमेगा ? कबीर उस अशरीरी की चेष्टाओं, मुद्राओं का क्या वर्णन करते ! उसके अपार्थिव अङ्गों—नखशिख—के विषय में क्या कहते ? उसके एक अंग का ही कबीर ने निरूपण किया, उसी का साक्षात्कार किया। वह अंग था ज्योति !

'कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेजपुञ्ज पारस धणीं, नैंनूं रहा समाइ॥'

कबीर की उस नायक से भेंट हो गई—

'आया था संसार मैं, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा सन्त हो, पड़ि गया नजर अनूप॥'

फिर कबीर उस सूक्ष्म के मानसिक सौन्दर्य का रहस्य खोलने के प्रयत्न में—साधना में—लीन हो गये। ज्ञान का आँचल पसार कर प्रियसे प्रेम-भिक्षा माँगी। उसके प्रेम बिना भव-बंधन कैसे कटते ? संसार के कोने-कोने में दुख है। केवल उसकी प्रीति में सुख का सागर लहराता है। वह सुख की राशि है न ? उसी चिर आनन्द-लालसा से कबीर की आत्मा रूपी प्रेयसी कितने ही गुणों से युक्त होकर उसके चरणों में वेदना और प्यार को निवेदित करने लगी।

नायिका

कबीर ने भारतीय नारी की गहरी समवेदना, अटूट विश्वास, चिर सम्बंध, कठोर पातिव्रत धर्म, मृदु मुस्कान और अधीर किन्तु संयत हृदय की वेदना लेकर भक्त के अनोखे व्यक्तित्व का प्रदर्शन अपनी साखियों में किया है। मादक अनुभूतियाँ लेकर, शरीर से बेसुध, प्रेम की डोर से बँधा, मतवाला कबीर का मनरूपी हाथी सांसारिक भोगों को तृणवत समझता है। उसे मृत्यु से स्नेह है। प्रेमी अपने जीवन में ही मृत्यु का, आत्मविस्मृति का, आह्वान कर, अकल्पनीय

आशाओं को जीतकर तथा अविगत से रति-भाव स्थापित कर संसार से पृथक् हो जाता है। प्रेमिका आत्मा प्रभु के सामने समर्पण कर देती है और कहती है:—

'मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता, क्या लागै मेरा ॥'

एकनिष्ठता ही उसके प्रेम की विशेषता है, जो सब प्रकार से समर्थ प्रियतम के प्रति है। यदि अन्य से रास-रंग रचाया जायगा, तो मुख पर कालिख लग जायेगी। समुद्र की अपार जलराशि तुच्छ है, सीप की भाँति प्रेमी आत्मा केवल स्वाति बूँद रूप प्रभु की प्रतीक्षा करती है। उसे समुद्र की अपार जलराशि के अनन्त बिन्दुओं से क्या प्रयोजन ?

'कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समदहि तिणका करि गिणै, स्वाति बूंद की आस ॥'

एकनिष्ठता एकाधिकार का अधिकार भी देती है। इसी हेतु कबीर की आत्मा प्रियतम को नेत्रों में बुलाकर बन्दी बनाने का स्वप्न देखती है :—

'नैना अन्तरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं ॥'

तुलसी ने भी राम के लिये कहा था:—'आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो है !' प्रियतम के बिना स्वर्ग के सुख भी अपनी महत्ता नहीं रखते। भक्त को नरक की दारुण यातना भी स्वीकार है, यदि वहाँ उसका साथ अपने प्रेमी प्रभु से हो। कर्त्तव्य-पथ पर पर्वत-सी अडिगता, हिमालय-सी नैतिक उच्चता और सागर की गहराई-सी विनम्रता के परस्पर विरोधी तत्वों के बीच भारतीय नारी केवल एक पति की आशा करती है। कबीर को भी केवल अपने प्रियतम की आशा है, जिस आशा में कोई स्वार्थ नहीं, कोई छल-कपट नहीं, कोई आकांक्षा नहीं, केवल प्रियतम के प्यार की आशा है। तभी कबीर निश्चिन्त हैं। जो समर्थ का दास है, उसका अकाज कैसा ?

'उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिब्रता नांगी रहे तौ, उसही पुरिस कों लाज ॥'

"प्रेमी संसार से विरक्त, प्रिय से अनुरक्त निर्वैर, निष्काम, तटस्थ मन और दुर्बल तन लेकर अपनी प्रेम-साधना में दृढ़ रहता है। तँबोली के पान-सी पीली देह,

रात्रि में खुली पलकें और उन्मन मन, किन्तु संशय-मुक्त उसका हृदय प्रेम से प्रकाशित रहता है।" जैसे कुमोदिनी जलाशय में और चन्द्र आकाश में निवास करता है, परन्तु प्रेम की भावना दोनों को चिर सम्बन्ध में बाँधे रहती है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का प्रेम-सम्बन्ध है। कबीर लिखते हैं:—

'कुमोदिनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही के पास॥'

स्वामी परमात्मा तो तन ही में बास करता है। वह वाक् चातुर्य से नहीं, मन के प्रेम से रीझता है। तर्क नहीं, भावुकता प्रेम की राह प्रकाशित करती है।

फिर प्रियतम के सुदूरस्थ होने का प्रश्न ही कैसा? जीवन का उत्सर्ग प्रभु की दूरी को दूर करता हुआ उसे निकट ले आता है। प्रभु-मिलन का कार्य सिद्ध हो जाता है:—

'दूरि भया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नहीं, कारिज सिधि न होइ॥'

उपनिषद के शब्दों में प्रभु 'तद्दूरे तद्वन्तिके' दूर से दूर और निकट से निकट है। प्रेम उसे निकट ही प्रकट कर देता है। पर प्रेम के इस मार्ग पर चलना, प्रेम के इस घर में प्रवेश करना तभी संभव होता है, जब साधक अपने अहंकार का विनाश कर दे:—

'कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहिं॥'

प्रेम मार्ग दुर्गम है, दुःसाध्य है। साहसी साधक राह में मस्तक बिछाकर ही इस पथ पर अग्रसर हो सकता है। यह प्रेमरस पीने में तो मधुर है, परन्तु इसका पाना अत्यन्त दुर्लभ है:—

'राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल॥'

अनेक साधक कलवार रूप सद्गुरु की प्रेम-मदिरा की भट्टी के पास आकर बैठते हैं, पर सबके भाग्य में इसका पीना नहीं बदा है।

प्रेम इस संसार में प्राप्त होने वाली कोई पार्थिव वस्तु नहीं है। वह तो स्वर्गीय है, जो खेत, हाट आदि से परे है। राजा-प्रजा और ऊँच-नीच का यहाँ भेद नहीं। केवल जो अपने को भुलाकर जीवन में ही मृत्यु की अनुभूति कर लेता है, उसी के लिये प्रेम की राह सरल हो जाती है। कबीर प्रेम मार्गी हैं। उनका प्रेम, ज्ञान-प्रेरित है। कबीर केवल प्रियतम का रूप-सौंदर्य सुनकर ही आतुर नहीं हो गये। उन्होंने जोगी का बाह्य भेष भी धारण नहीं किया। सुदूर प्रदेश की दौड़ नहीं लगाई। किसी राजा-रानी के प्रेम-गीत नहीं गाये। रूप और राज्य की कोई प्रेम-गाथा नहीं गढ़ी। शृंगार के काम-जनित चित्र नहीं खींचे। उनका प्रेम शुद्ध, अलौकिक और ज्ञान की डाल का मधुर फल है। उनके ज्ञान का परिणाम प्रेम है। वे ज्ञानमार्गी होते हुये भी शुद्ध प्रेममार्गी हैं। उनके ज्ञान-खड्ग ने संसार की बाधाओं से लड़कर उनके प्रेम-अश्व का मार्ग प्रशस्त किया। प्रेम के अश्व पर सवार होकर संसार के रणक्षेत्र में, ज्ञानरूपी खड्ग द्वारा कबीर ने समस्त माया-मोह के बंधन काट डाले। यह संघर्ष भौतिक वासना से परे विशुद्ध प्रेम के क्षेत्र में था।

माया और मोह के बंधनों को काटकर कबीर अपने प्रियतम की प्रेम-प्राप्ति कर सके, जिसमें अनन्त क्रीड़ा, अपरिमित रास रंग और अजस्र आनन्द है। पर विनीत कबीर अपनी दुर्बलता के अनुभव से प्रेमी के रास-रंग में संकोच पूर्वक सम्मिलित्त होते हैं। प्रेम-क्रीड़ा से वे परिचित नहीं। उत्साहपूर्ण साधन सन्नद्धता के अतिरिक्त कबीर की क्रीड़ा में नव-विवाहिता पत्नी का संकोच और अनजान किन्तु मधुर रास-रंग की आकांक्षा है। "का जाणूँ उस पीव सूँ कैसे रहसी रंग ?" भौतिक वासना का साधारण रूपक लेकर प्रेम की अन्यतम अभिव्यक्ति उन्होंने साखियों में की है। प्रेम में एक प्रकार की मादकता है। उसके द्वारा मन में आकर्षण, अनुराग आदि की ओर अन्तः प्रवृत्तियाँ एक साथ ही जाग्रत हो जाती हैं। प्रेम की सारी व्यंजनायें और व्याख्यायें एक पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही निहित हैं और इस संबंध में भी सावन के दिनों में पति-पत्नी के एक साथ झूलने की मधुर अनुभूति से कौन मुग्ध नहीं हो जाता ?

कबीर कहते हैं :—

'दरियां पारि हिंडोलना, मेल्या कंत मचाइ ।
सोई नारि सुलषिंणी, नित प्रति झूलण जाइ ॥'

कंत ने सरिता के उस पार झूले का रंग रचाया है। इस प्रेम-क्रीड़ा में जो नित्य भाग लेती है, वही नारी उत्तम लक्षण संम्पन्न है।

यह प्रेम-भक्ति का हिंडोला सब सन्तों का आश्रय स्थल है, जहाँ आत्मा राम झूल रहा है। इस हिंडोले में चन्द सूर्य के दो खम्भे हैं तथा बंक नालि की डोर है। वहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ झूल रही हैं। यहीं कबीर की आत्मा भी क्रीड़ा कर रही है।

इस क्रीड़ा का आनन्द प्रिय की कृपा पर निर्भर है। कामिनी यद्यपि सोलह शृंगार सजाये है, और तन-मन से सज रही है, फिर भी यदि प्रिय को अच्छी नहीं लगती, तो शृंगार करने से क्या होता है :—

'नव सत साजे कामनी, तन मन रही संजोइ ।
पीव कै मन भावै नहीं, पटम कीये क्या होइ ॥'

"प्रिये तु सौभाग्यफला हि चारुता" उक्ति को कबीर ने मर्मस्पर्शी आध्यात्मिकता प्रदान की है। परन्तु जो सुन्दरी स्वामी की भक्ति करती है, दूसरे की आशा नहीं करती, उसका स्वामी उसे पल भर के लिए भी अकेला नहीं छोड़ता :—

'जे सुन्दरि सांई भजै, तजै आन की आस ।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छाड़ै पास ॥'

जीवात्मा को अनन्यता, आन्तरिक प्रतीति से ही ब्रह्म का स्थायी प्रेम प्राप्त होता है। बिना प्रेम के उत्पन्न हुए क्रीड़ा तो स्वप्न है। यदि मन में प्रेम नहीं है, तो रातदिन कीर्तन करने से भी कुछ लाभ नहीं होगा :—

'मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिल गाइ ।'

मन में उसका प्रेम होने पर मधुर विरह की स्थिति आयेगी; फिर गान और रुदन का अपूर्व सामंजस्य होगा।

प्रेम में विरह व्यथा का भी अपूर्व स्थान है। दुखदाई विरह-व्यथा से समस्त शरीर जर्जर हो जाता है। इस व्यथा को तो ब्रह्म ही जानता है या वह जिसने विरह का दुख झेला हो।

प्रीति की पीड़ा शरीर पर तो प्रभाव डालती ही है, इसके अतिरिक्त वह हृदय तक प्रविष्ट होकर समस्त अन्तस्तल मथ डालती है।

इस शरीर में समस्त नसें ताँत के समान हैं और यह शरीर रबाब नाम का बाजा है, जिसे विरह नित्य झंकृत करता रहता है। इस व्यथा के एकान्त संगी राग को कौन सुन सकता है? या तो मेरा चित्त या स्वयम् प्रियतम रूप परमात्मा। विरह-व्यथा में रोना प्रेम की प्रबलता को हलका कर देता है और हँसना उस

व्यथा पर परदा डाल देता है। अतः जैसे घुन अन्दर ही अन्दर काठ को खा जाता है, उसी प्रकार वियोग सारे शरीर को छलनी कर देता है। वियोग का तीव्र अनुभव किये बिना राम से भेंट नहीं होती।

यदि हँसी खेल में ही हरि मिल जायँ, तो कौन साधना के कष्टों को सहन करे? प्रेम के संयोग और वियोग दो पक्ष हैं। संयोग की मधुरिमा वियोग-व्यथा की चरम सीमा पर ही अवलम्बित है।

समस्त संसार पशु के समान भोजन और निद्रा में निरत है, परन्तु प्रभु का प्रेमी ब्रह्म के वियोग में दुखी रहता है, क्योंकि उसकी आत्मा जाग्रत और प्रभु से मिलन के लिए व्याकुल रहती है। ब्रह्म-वियोगी आत्मा को सांसारिक उपभोग नहीं रुचते।

कबीर का वियोग अध्यात्म जगत की वस्तु है। उन्होंने परमात्मा से जीवात्मा के वियुक्त होने का वर्णन किया है, परन्तु उसमें भाव-जगत की तीव्रता और भौतिक जगत का आकर्षण है। कबीर के विरह में विस्तार नहीं, गम्भीरता है, चमत्कार नहीं, अनुभूति है और बाह्य जगत नहीं, अन्तःकरण का उद्‌घाटन है। जायसी का विरह सहस्रों कोस के अन्तर का है, सूर का विरह केवल तीन कोस के अन्तर का है और कभी-कभी तो एक कुंज में अन्तर्हित होने तक सीमित है, पर कबीर का विरह तो घट में ही है:—

'सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घट परगट होइ॥'

प्रभु घट-घट में व्यापक है। किसी की भी हृदयरूपी सेज सूनी नहीं है, पर भाग्यवती आत्मा वही है, जो उसकी इस निकटता को अनुभव कर सके। इसी सूक्ष्म अन्तर (निकट की दूरी) को लेकर कबीर ने वियोग के पूर्वराग, प्रवास और करुणा आदि अंगों का वर्णन किया है। गुरु द्वारा प्रिय से परिचय करा देने पर पूर्वराग 'पूरबिला पति' जान लेने पर प्रवास और अपनी मिलन-असमर्थता से उत्पन्न करुणा का जो उद्रेक कबीर की साखियों में हुआ है, वह भाव-जगत की अमूल्य निधि है।

प्रेम की वियोगावस्था के अन्तर्गत आचार्यों ने एकादश अवस्थाओं का वर्णन किया है। कबीर काव्य-रीति की परिधि के बाहर थे, परन्तु फिर भी जिस स्वाभाविकता के आधार पर शास्त्र का निर्माण होता है, वह तो मानव-मन में बहुल या आंशिक रूप से विद्यमान रहती ही है।

कबीर में अभिलाषा है और चिन्ता के स्थान पर चिंतन है। पूर्व पति की स्मृति का जाग्रत होना और उसका स्मरण विरह के मूल में है। उसके गुण कबीर के विरह की प्रेरणा हैं। कबीर निर्गुण के गुण गाते हैं, बाह्यप्रकृति और अन्तर्जगत में उस प्रिय की सत्ता का अनुभव करते हैं। उनकी बाह्य प्रकृति या संसार भोगग्रस्त है, किन्तु वे संयोग-वियोग में व्यस्त हैं। कबीर में प्रलाप नहीं, ज्ञान है, अनोखा उन्माद है, व्याधि है, जड़ता है, और विरह की चरम सीमा मरण है। कुछ उदाहरण लीजियेः—

अभिलाषा—प्रियतम की राह में विरहिणी की प्रतीक्षा और उत्सुकताः—

'विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥'

तुलसी भी तो नाथ का पंथ हेर रहे हैंः—

'नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति।
होइ धौं केहि काल दीन दयालु जानि न जाति॥'

नेत्रों में अश्रु-जल निर्झर के समान बह रहा है, जैसे कूप में लगा हुआ रहट रात-दिन बह रहा हो। पपीहा जैसे किसी प्रिय को पुकारता है, वैसे ही भक्त प्रभु को पुकार कर कह रहा है, हे राम! कब मिलोगे?

'नैनां नीझर लाइया, रहँट वहै निस जाम।
पपिहा ज्यूं पिव पिव करै, कबरु मिलहुगे राम॥'

हे राम! कब मिलोगे? इस अभिलाषा में कितनी तड़पन भरी हुई है! इसी प्रकारः—

'नैना अंतरि आचरुं, निस दिन निरषौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि॥'

प्रिय-मिलन का स्वप्न आँखों में झूल रहा है। वह दिन कब आवेगा, जब भक्त अपने नेत्रों के अन्दर प्रभु को विराजमान पाकर उन्हें दिन-रात देखा करेगा।

उन्माद—विरह-शोक-के कारण चित्त-भ्रान्ति और बावलापन ही उन्माद है—

'विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
रांम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥'

व्याधि—वियोग के कारण शरीर को शिथिल बना देनेवाला मन का संताप व्याधि है :—

'आंषड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ॥'

जड़ता—

'बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥'

श्री 'वियोगीहरि जी' उपरोक्त साखी को लक्ष्य कर लिखते हैं—"कुछ ठिकाना ! कितना साहसी और शूर होता है विरही" । विरह की अग्नि से तन और मन इस प्रकार जल गये कि जिस प्रकार मृतक को पीड़ा का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार भक्त को भी नहीं ! अब तो केवल अग्नि का ही परिचय है । निम्नांकित साखी में जड़ता और मरण नाम की मनोवृत्तियों का संयोग है—

'कबीर तन मन यों जल्या, बिरह अगिन सूं लागि ।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणैगी यहु आगि ॥

मरण—

जब चित्त में मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो या मृत्यु का कष्ट नगण्य जान पड़े, तब मरण की मनोदशा होती है । विरह की निराशा में एक दिन मरण भी आवे तो क्या ? यह मृत्यु असाधारण मृत्यु होगी । कबीर उस तन को जलाकर राख करना चाहते हैं, जिससे धुवाँ प्रभु के निवास तक जाये और धुवें की कड़ुवाहट, उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भर दे । संभव है तब वह दयालु देव वर्षा करके विरह की अग्नि को बुझा दे:—

'यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ॥'

नीचे लिखी साखी में विरहिणी आत्मा को आठों प्रहर की विरहाग्नि असहनीय हो रही है । वह कहती है :—

'कै बिरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सह्या न जाइ ॥'
(बिरह कौ अंग)

प्रभु ! या तो दर्शन दो या मृत्यु । यदि दर्शन नहीं देते तो अच्छा है, यह प्राण शरीर का परित्याग कर दें । पल-पल में तिल-तिल कर जलना तो अत्यन्त कष्टप्रद है ।

'कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजांण ।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण ॥'

इस साखी में भी यही भाव अंकित है ।

कबीर के विरह में एक विनम्रता है, कातरता है । हृदय प्रिय मिलन को तरस रहा है । आशा की लहर उठती है कि प्रिय आ रहा है, दर्शन होंगे, परन्तु आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है । प्रीति की व्यथा और घुलना तो रग-रग में भिदा है और रुदन चिरसंगी-सा है । बिना रोये प्रेम-प्यारा कैसे मिलेगा ? विरह-वेदना मधुमयी होती है । उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है ।

कबीर ने अपना संदेश भी प्रिय के पास भेजा । इस संदेश में प्रेमातिरेक के कारण प्रिय का नाम 'राम' ही लिखा जा सका और कुछ नहीं:—

'यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखनि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥'

क्या इस प्रेम से राम द्रवित न होगा ? क्या इस प्रेम-साधना से राम न रीझेगा ? यह प्रेम साधना !

'परिवा प्रथम प्रेम बिनु, राम मिलन अति दूर ।'

जैसे प्रतिपदा पक्ष में सर्व प्रथम दिन है, उसी प्रकार सर्व साधनों में प्रथम प्रेम ही है ।

ज्योति और सिद्ध कबीर

शरीर में, हाथ से स्पर्श करके रूप के साथ रहनेवाली ऊष्मा का अनुभव होता है । यह ऊष्मा जीवित शरीर को नहीं छोड़ती । यह जीवन की अनुमापक ही नहीं, चैतन्यात्म-ज्योति का अनुमान करानेवाली भी है । साधना के शिखर पर इसी चैतन्य आत्म-ज्योति का साक्षात्कार होता है । 'परचा कौ अंग' में इसी तेज-पुंज का परिचय कबीर के उमड़ते भावों पर विराम चिह्न लगा देता है । परब्रह्म के

इस तेज का अनुमान ही क्या ? उस शोभा का वर्णन मुख से नहीं हो सकता, देखने से ही उसकी अनुभूति हो सकती है । जड़-जंगम की परिधि के बाहर, वह अगम और अदृष्ट-ज्योति जगमगा रही है । यहाँ वासनाओं के संस्कार सो जाते हैं। स्थूल इन्द्रियों के बिना ही इस कौतुक का और सूर्य-चन्द्र के बिना ही इस प्रकाश-पुंज या महा तेज का कबीर ने साक्षात्कार किया । प्रिय (ब्रह्म) के संग रात्रि (अज्ञान) व्यतीत कर, प्रभात (ज्ञान) में अन्तरिक्ष से प्रकाश-राशि (आत्मज्योति) जगमगा उठी, मानों जगत के एक सूर्य के स्थान पर सहस्रों सूर्यों का उदय हुआ हो :—

'कबीर तेज अनन्त का, मानो ऊगी सूरज सेणि ।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतुक दीठा तेणि ॥'

यह था अद्भुत ज्योति दर्शन !

ज्योति

कबीर इस ज्योति की अनुभूति से स्तब्ध रह गये, यह महत्व की बात है। योगी नवों द्वारों को बन्द करके निश्चल हो जाते हैं; फिर स्थिर चित्त होने पर जल (ब्रह्मांड) में बिम्ब का प्रकाश होता है, ब्रह्म-ज्योति का दर्शन होता है । ब्रह्म-ज्योति क्या है ? क्या यह ज्योति अभौतिक है ? क्या यह ज्योति केवल तत्वों का प्रकाश है ?

ब्रह्म-ज्योति और आत्म-ज्योति अभिन्न हैं। जीवात्मा वस्तुतः ऐसी है कि जिसके साथ न आकाश है, न अन्तरिक्ष और न धरणी आदि । यह अभौतिक है, फिर ज्योति-प्रकाश का अस्तित्व क्या ? ज्योति का तात्पर्य है—स्वयं प्रकाशमान शुद्ध आत्म-तत्व । इस प्रकार आत्मभाव से ब्रह्म-तत्व का साक्षात्कार, अभेद दृष्टि या अखण्ड–तत्व की प्राप्ति या अखण्ड से खण्ड का परिचय ही ज्योति-दर्शन है :—

'पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि ॥'

छांदोग्य उपनिषद के अध्याय ३ खण्ड १३ में, इसी हृदय-स्थित ज्योति को श्रुत और दृष्ट बताकर, इसकी उपासना का आदेश दिया गया है । जब ज्योति-दर्शन होता है, तब जीवात्मा शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती है या ब्रह्मात्मैक्य स्थिति आ जाती है । इसी साक्षात्कार का वर्णन कबीर की इस साखी में है:—

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अँधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या माँहिं॥'

ऐसे ही विचार का, श्वेताश्वतरोपनिषद के अध्याथ २ में उल्लेख है :—

'यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं
दीपोपमेऽह युक्त: प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:॥'

जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश स्वरूप आत्म-भाव से ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

हठयोग और ज्योति

पातंजलि के हठयोगानुसार इस ज्योति को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर वेग उत्पन्न होता है। फिर इसमें प्रथम विस्फोट होता है, जिसको नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। इस नाद को सुनने का क्रम छान्दोग्योपनिषद में इस प्रकार है:—प्रथम रथ के घोष फिर बैल के डकराने के समान और फिर जलती हुई अग्नि के शब्द के समान यह नाद सुना जाता है। कबीर ने सम्भवतः इसी ज्योति का साक्षात्कार किया था।

'अन्तर कँवल प्रकाशिया, ब्रह्मवास तहाँ होइ।
मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जांणेगा जन कोइ॥'

कबीर ज्योति से परिचित होने पर भी प्रगति न कर सके। सम्भव है, कबीर ने इसमें भौतिकता की गन्ध पाई हो और वे सहज अभेदावस्था की भावमयी मानसिक साधना में तल्लीन रहे हों। कबीर यदि ज्योति-परिचय से आगे बढ़ते, तो न केवल एकांतवास करते वरन् समाज को नई मान्यतायें और राहें भी सुझा पाते।

कबीर के लिए यह ज्योति तत्वों का ही प्रकाश, या ब्रह्मांड में प्राणों के निरोध से होनेवाला भौतिक प्रकाश था। कबीर तो जीवन्मुक्तावस्था को पहुँच रहे थे। ब्राह्मपुराण में जीवनमुक्त के लक्षण यों दिये हैं:—

'यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।
तस्मात्कालात्समारम्भे जीवन्मुक्तो भवेदसौ॥'

जिस समय योगी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान लेता है, उसी समय से वह जीवन्मुक्त हो जाता है। 'रत्नों' की खोज में चमकती सीपियों के ढेर से कौन प्रलोभित होगा ? पातंजल योगसूत्रों के अनुसार इस अवस्था में आकाशगमन आदि की कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ तो अनात्मयोगियों के कथनानुसार सूर्यादि मण्डल में संयम करने से भी, भुवन-विज्ञान रूप से भी प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुतः सिद्धियाँ तो परमार्थ-पथ में खाइयाँ हैं। जब जगत की आकांक्षायें हृदय में आशाओं के बीज बोती हैं, तो सिद्ध होने से ही क्या ? 'बेली कौ अंग' में कबीर का कथन है:—

'सींध भई तब का भया, चहुँ दिशि कूटी बास।
अजहूँ बीज अँकूर है, भी ऊगण की आस॥'

कबीर ऐसे तत्वदर्शी को सिद्धियाँ सन्तोष नहीं दे सकती थीं :—

'तन का जोगी सब करैं, मन को बिरला कोइ।
सब सिधि सहजैं पाइगे, जो मन जोगी होइ॥'

कबीर तो मन को योगी बनाकर सब सिद्धियों को सहज ही पाने का मार्ग श्रेयस्कर समझते हैं।

अध्यात्म योग

कबीर सहजमार्ग को साधन मानकर आत्मज्ञान की प्रगति के लिए अग्रसर हुए। यह ज्योति-साक्षात्कार ही आत्म-ज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत स्थिति की अनुभूति प्राप्त करके चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में रमा देना ही कबीर ने अन्तिम लक्ष्य माना है :—

'हरि संगति शीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप॥'

यही अध्यात्म योग है। कठोपनिषद के अध्याय १ वल्ली २ में आत्मज्ञान के फल में इसी की व्याख्या है। इसी की प्रतिष्ठा के द्वारा मनुष्य की इकाई सांसारिक हर्ष-शोक को त्याग कर निस्सीम हो जाती है :—

'हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाय॥'

कबीर ऐसे ही अध्यात्म योगी थे, सिद्ध थे। उनकी बिन्दुरूप आत्मा समुद्र-रूप परमात्मा में समा गई। श्वेताश्वतरोपनिषद के अध्याय २ में योग-सिद्धि या

तत्वज्ञान का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है—"जिस प्रकार मृत्तिका से मलिन हुआ बिम्ब शोधन किये जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोक-रहित हो जाता है।" यही सिद्धावस्था है।

सिद्ध कबीर

ब्राह्मपुराण में कैवल्योपनिषद की व्याख्या के प्रसंग में आठ सिद्धियों का वर्णन है। तीन सिद्धियाँ तो ऊह, शब्द और अध्ययन नाम की, तीन दुखविघात नाम वाली तथा दो सुहृत्प्राप्ति और दान नाम वाली हैं। तत्व-जिज्ञासु को उपदेश के बिना ही जन्मांतर के संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वह ऊह नाम की सिद्धि है। बिना प्रयत्न केवल श्रवण मात्र से ही जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वह शब्द नाम की सिद्धि है। शास्त्र के अभ्यास से जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसे अध्ययन कहते हैं। कबीर को ऊह और शब्द नाम की दो सिद्धियाँ प्राप्त थीं। प्रथम का उल्लेख "परचा कौ अंग" की निम्न साखी में है:—

'देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख॥'

शब्द सिद्धि का प्रमाण तो कबीर के सम्पूर्ण जीवन से मिल जाता है। कबीर का जीवन एक सिद्ध या उत्तम पुरुष का उदाहरण है। कबीर ने "साध साषीभूत कौ अंग" में संतों के लक्षणों का उल्लेख किया है:—

'निरबैरी निह कामता, साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतन का अंग एह॥'

वैराग्य और निःसंग बुद्धि से कार्य करना तथा वैर भाव न रखना या मन की शुद्धि एवं दुर्बुद्धि का त्याग कबीर को मान्य है। कबीर के जीवन से निर्वैर शब्द का अर्थ केवल निष्क्रिय अथवा प्रतिकार-शून्य नहीं घटित होता। कर्मयोगियों की भाँति कबीर ने लोक-संग्रह के लिये अथवा प्रतिकारार्थ पूरे समाज से, धर्म के ठेके-दारों से बैर मोल लिया, परन्तु केवल कर्तव्य समझ कर। सब प्राणियों में जिसकी साम्य बुद्धि हो गई और परार्थ में जिसके स्वार्थ का सर्वथा लय हो गया; वह तो आप ही स्वयं प्रकाश अथवा बुद्ध हो जाता है। निष्कामता के जिस सिद्धांत को गीता ने प्रतिपादित किया है, उसका समर्थन कबीर की उपर्युक्त साखी से स्पष्ट होता है।

आकांक्षा रहित और भगवान के भरोसे जो सन्त है, वही हरिजन है :—

'चतुराई हरि ना मिलै, ए बातां की बात ।
एक निस्प्रेही निराधार का, गाहक गोपी नाथ ॥'

सिद्ध तो सारग्राही होता है । कबीर ने सारग्राही के दो रूप लिखे हैं :—
पहला हंस जो नीर-क्षीर-विवेक के लिए प्रसिद्ध है :—

'षीर रूप हरि नाम हैं, नीर आन ब्यौहार ।
हंस रूप कोइ साध है, तत कां जांनणहार ॥'

दूसरा मधुप जो फूल-फूल से तत्व लेकर एकत्र करता है:—

'कबीर औगुण ना गहै, गुण ही कौं लै बीनि ।
घट घट के मधुप ज्यूं, पर आतम ले चीन्हि ॥'

जीवन्मुक्त को ब्रह्म पर असाधारण विश्वास होता है :—

'भूखा भूखा क्या कहै, कहा सुनावै लोग ।
भाड़ा घड़ि जिन मूंह दिया, सोई पूरण जोग ॥'

यह आस्तिकता है, अकर्मण्यता नहीं ।

निरभिमानता, सिद्ध कबीर के फक्कड़पन और अक्खड़पन में एक ऐसी कोमल वृत्ति है, जो कबीर के व्यक्तित्व के प्रति असाधारण सहानुभूति उत्पन्न कर देती है । "जीवन मृतक कौ अंग" में इसका सुन्दर उदाहरण है :—

'कबीर चेरा संत का, दासनि का पर दास ।
कबीर ऐसै ह्वै रह्या, ज्यूं पाऊँ तलि घास ॥'

जो अपने को संतों का सेवक, भक्तों का दास और पैरों के नीचे पड़ी घास कह सकता है, वह किसकी सहानुभूति से वंचित रहेगा ?

'रोड़ा ह्वै रहा बाट का, तजि पाखंड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलैं भगवान ॥'

कबीर पाखंड एवं अभिमान को त्यागकर मार्ग में पैरों के नीचे दब जाने वाली रोड़ी बन जाने का उपदेश देते हैं, जिसे किसी के ठुकराने की परवाह नहीं ।

'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ॥'

पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने उपर्युक्त साखी को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'भगवान जैसे रक्खे, वैसे रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे, वही खा लेना कर्त्तव्य है। निरीह सारल्य का चरम दृष्टान्त............पता नहीं कबीर ने मुतिया नाम क्यों पसन्द किया? अनुमान किया जाय कि उनका बचपन का नाम मुतिया था, तो असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम बड़ा जानदार है। उस नाम में कुत्ते की सारी निरीहता मानों दुम हिलाती हुई सामने खड़ी है।' इसके अतिरिक्त मुतिया नाम का एक और भी रहस्य है। इससे कुत्ते की निरीहता ही नहीं, वरन् कबीर की निरन्तर ज्ञान-स्वरूप रहने की भावना भी प्रकट होती है। कबीर ज्ञानी हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, सिद्ध पुरुष हैं। वे अपने ज्ञान को कभी नहीं भूल सकते। मुतिया का अर्थ है ज्ञान स्वरूप। मोती ज्ञान का प्रतीक है।

श्री मद्भगवद्गीता में ज्ञानी पुरुष के जो लक्षण दिये हैं, वे लक्षण कबीर में विद्यमान हैं। ज्ञानी पुरुष के सम्बंध में यह सिद्ध होता है कि वह 'ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से अपनी बुद्धि को निर्विषय, शान्त और प्राणि मात्र में निर्वैर तथा सम रक्खे। पर इस स्थिति को पा जाने से सामान्य अज्ञानी लोगों के विषय में उदासीन न रहे। स्वयं सारे संसारी कर्मों का त्याग कर या कर्म सन्यास आश्रम को स्वीकार करके इन लोगों की बुद्धि को न बिगाड़े; देश काल और परिस्थिति के अनुसार जिन्हें जो योग्य हो, उसीका उन्हें उपदेश दे; अपने निष्काम कर्त्तव्य आचरण से सद्व्यवहार का अधिकारानुसार प्रत्यक्ष नमूना दिखला कर, सब को धीरे-धीरे यथा सम्भव शान्ति से किन्तु उत्साहपूर्वक उन्नति के मार्ग में लगावे।' यही ज्ञानी पुरुष का सच्चा धर्म है। उसे इसी आदर्श के अनुकूल फल पर ध्यान न देते हुये इस जगत का अपना कर्त्तव्य शुद्ध अर्थात् निष्काम बुद्धि से सदैव यथाशक्ति करते रहना चाहिये। इसे ही लोकसंग्रह अथवा कर्मयोग कहते हैं!

केवल तुलसी को ही लोकसंग्रही मानकर और कबीर की उपेक्षा करके स्वर्गीय पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने न्याय नहीं किया। कबीर अवश्य ही लोकसंग्रही और कर्मयोगी थे। अन्तर इतना ही है कि तुलसी में सामंजस्य था, कबीर में क्रान्ति। तुलसी में आदर्श और मर्यादा है, कबीर में रूढ़ि पर आघात और निस्सार परम्परा से विद्रोह। तुलसी ने समाज के सम्मुख आदर्श रक्खा, कबीर ने विद्रोह का नेतृत्व किया। अतः दोनों ने दो विरुद्ध दिशाओं से लोकसंग्रह का कार्य सम्पादित किया।

कबीर ने प्रगतिशील समाज की जिस पगडंडी के निर्माण में अपने चरण चिह्न अंकित किये, उन्हीं चरणचिह्नों का अनुकरण कर कबीर का युग चला;

मुसलमान और दलित वर्ग के भावुक और सन्त चले और आज का युग भी चलना चाहता है। मिथ्या बाह्याचारों का कबीर ने जीवन पर्यन्त विरोध किया। यद्यपि ऐसे ही बाह्याचारों में यह प्रगतिशील भावना पंथ विशेष के अन्तर्गत बंदी हो गई, परन्तु यह उसकी प्रवहमानता पर विराम चिह्न कदापि नहीं था। कबीर का व्यक्तित्व पंथ की घटाओं को चीर कर आज भी प्रकाश की वर्षा करता है। आज का प्रगतिशील आलोचक उनमें श्रमजीवी, आज का सुधारक उनमें उच्च नैतिकता और आज का हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-समर्थक उनमें ऐक्य की भावना की प्रबल प्रेरणा पा लेता है। एक विद्वान ने कबीर के सुधारक रूप को गौण और उनकी वैयक्तिक साधना को प्रमुख माना है। यह सत्य है कि वे व्यक्तिगत साधना के साधक एवं प्रचारक थे, परन्तु उनका अपना व्यक्तित्व भी तो समाज-सुधार की लहर की उपज था। तथ्य ही व्यक्ति की भावनाओं को प्रेरित एवं विकसित करते हैं, विचार या भावनायें तथ्य को पैदा नहीं करतीं।

ज्ञान, अनुभूति और कल्पना

कबीर के व्यक्तित्व में ज्ञान, अनुभूति और कल्पना तीनों का सम्मिश्रण है। यद्यपि ज्ञान, अनुभूति और कल्पना का विभाजन स्थूल दृष्टि पर आधारित है, क्योंकि ज्ञान से अनुभूति और कल्पना दोनों ही संभव हैं और अनुभूति को कल्पना ही विकसित करती है; फिर भी इससे कबीर के तिहरे व्यक्तित्व का दर्शन किया जा सकता है। कबीर का ज्ञान ब्रह्मलीन, अनुभूति सौंदर्यलीन और कल्पना रहस्यलीन है। उनका ज्ञान तत्व या अद्वैत को लेकर, अनुभूति चिरसुन्दर या द्वैत को लेकर और कल्पना तथ्य या भौतिक शरीर को लेकर चली। ज्ञान में कबीर परमहंस हैं, कल्पना में योगी और अनुभूति में प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता रानी। कबीर के ज्ञान का अंश ब्राह्मण दर्शन है। कल्पना के अंश के लिए वे सिद्धों और नाथों के कृतज्ञ हैं। और अनुभूति? वैष्णवों की माधुर्य भावना, भक्तिमार्ग की प्रेमपीर और अभिव्यंजना की तूलिका से गहरा रंग पाकर कबीर की अनुभूति अनोखी बन बैठी। कबीर का ज्ञान लोकातीत है, परन्तु अनुभूति लोकातीत और लौकिक दोनों ही। ज्ञानावस्था में कबीर सिद्ध और साधक दोनों हैं। योगावस्था में उनकी शारीरिक साधना है और प्रेम की अनुभूति में मानसिक साधना। ज्ञान निर्गुण और सगुण के परे है। योग योग है; परन्तु अनुभूति संयोग और वियोग है। तत्व और तथ्य की असीमता और ससीमता के मध्य मार्ग में कबीर का व्यक्तित्व अनुभूति के स्पन्दन में, भावनाओं में, निरसीम और अभिव्यक्ति में ससीम है।

सौंदर्य का माध्यम लेकर कबीर को अनुभूति चली और सत्य का माध्यम लेकर कबीर की सहानुभूति ।

कबीर का प्रेम भौतिक जगत के कोलाहल, विषाद, और अन्धकार से पीड़ित प्राणियों के प्रति फूट पड़ा और रोषयुक्त स्वर में कबीर ने उन्हें प्रकाश दिखाने का आश्वासन देकर निमंत्रित किया । कबीर को अनुभूति सहानुभूति बन बैठी । कबीर कर्मयोगी थे । संसार के सब जीवों से प्रेम और दया से पूर्ण व्यवहार करने का कबीर ने प्रचार किया ।

— मुन्शीराम शर्मा

—सोमनाथ शुक्ल

---

(१) गुरुदेव कौ अंग

—:****:—

सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सई न दाति ।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति ॥१॥

सद्गुरु के समान अपना कोई सगा सम्बन्धी नहीं है । शोधक या साधु के समान कोई दाता नहीं है । हरि के समान कोई हितकारी नहीं है और हरि के भक्तों के समान कोई जाति नहीं है ।

सोधी—शोधी—शोधक,साधक, साधु ।[देखो सुमिरण कौ अंग, दोहा ५ में आया हुआ शब्द 'सोधिया']

बलिहारी गुर आपणै, द्यौं हाड़ी कै बार ।
जिन मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥२॥

अपने गुरु पर बलिहार जाता हूँ और माया (शरीर) को उनके ऊपर न्यौछावर करता हूँ जिन्होंने अल्पकाल में ही मुझे मनुष्य से देवता बना दिया ।

हाड़ी—शरीर, माया

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार ।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार ॥३॥

गुरु का गौरव असीम है । उन्होंने अनन्त उपकार किया है । मेरे अगणित ज्ञान-चक्षुओं को खोलकर असीम (ब्रह्म) का दर्शन कराने का श्रेय उन्हीं को है ।

राम नाम कै पटंतरै, दैवे कौं कछु नांहि ।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि ॥४॥

(गुरु ने मुझे राम-नाम दिया) मैं गुरुदक्षिणा क्या दूँ ? राम-नाम की समता में तो कोई भी वस्तु देने योग्य नहीं है । मैं क्या देकर गुरु को संतुष्ट करूँ ? यह

अभिलाषा मन में ही रह गयी। पटंतरै—पटतर—समता।

सतगुर कै सदकै करुं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा वाछ ॥५॥

सद्गुरु के सामने प्रणत होकर मैं अपने हृदय को स्वच्छ बनाता हूँ। यद्यपि कलिकाल मुझसे संघर्ष कर रहा है (माया मोह मुझे खींच रहा है) परन्तु बलशाली (गुरुदेव) मेरे रक्षक हैं। सदकै—प्रणाम करना; साछ—स्वच्छ; वाछ—बचानेवाला; मुहकम—बलशाली।

सतगुर लई कमांण करि, बांहण लागा तीर।
एक जु वाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ॥६॥

सद्गुरु ने हाथ में धनुष ले लिया और बाण चलाने लगे। एक बाण प्रेम सहित ऐसा मारा कि वह शरीर के भीतर प्रविष्ट होगया।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु वाह्या एक।
लागत ही म्वैं मिल गया, पड़्या कलेजै छेक ॥७॥

गुरु निस्संदेह सच्चे वीर (सिद्ध) पुरुष हैं। उन्होंने एक शब्द रूपी बाण मारा। उस बाण के (गुरु शिक्षा के) लगते ही मैं पृथ्वी में मिल गया और कलेजे में छेद हो गया, हृदय ज्ञान से परिपूर्ण हो गया।

सतगुर मार्या वाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अङ्गि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥८॥

सद्गुरु ने हाथ में सीधी मूठ पकड़ कर प्रेम-बाण पूरे बल के साथ मारा। वह मेरे नग्न अंगों में लगा जिससे सारे शरीर में दावाग्नि-सी फूट पड़ी।

हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या, सतगुरु कै हथियारि ॥९॥

मन की चंचल वृत्तियों को नष्ट कर सद्गुरु का अस्त्र (प्रेम रूपी बाण) अन्तर में बिध गया और आत्मा सांसारिक हास-विलास से उदासीन हो गयी। उन्मनी अवस्था आगयी।

गूंगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुरु मार्या बाण ॥१०॥

सद्गुरु ने बाण मारा जिससे शिष्य (ब्रह्मानुभूति के कारण) मूक और पागल जैसा हो गया। जो कान संसार के व्यापारों में रत थे वे बहरे (संसार से विमुख) हो गये। इधर-उधर दौड़ने वाला (चंचल) मन पैरों से लँगड़ा (स्थिर) हो गया।

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥११॥

मैं लौकिक मान्यताओं और वेद के पीछे लगा चला जा रहा था, उन्हीं का अनुकरण करता था। परन्तु सामने ही सद्गुरु मिल गये। उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट ॥१२॥

प्रेम-तैल से भरा ज्ञानरूपी दीपक देकर उन्होंने कभी नष्ट न होने वाली सुरति की बत्ती उसमें डाल दी, जिसके प्रकाश में मैंने अपना सारा सौदा कर लिया। अब मैं इस संसार की हाट में नहीं आऊँगा।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥१३॥

गुरु के मिलने पर (हृदय) में ज्ञान का प्रकाश हो गया। उस गुरु को विस्मृत नहीं करना चाहिये। जब भगवान ने कृपा की तब गुरु आकर मिले हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कौंण ॥१४॥

कबीर कहते हैं कि गौरवशाली गुरु मिले जिन्होंने मुझे आटे में नमक की भाँति ब्रह्म में लीन कर दिया। मेरे जाति-पाँति और कुल के समस्त बन्धन नष्ट हो चुके हैं, अब मेरा क्या नाम रखोगे ?

जाका गुरु भी अन्धला, चेला खरा निरंध।
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पडंत ॥१५॥

गुरु भी अन्धा (अज्ञानी) है और शिष्य भी निरा अन्धा (अज्ञानी) है। जब अन्धा अन्धे को आगे ढकेलेगा तो दोनों ही टकराकर कूप में गिर पड़ेंगे। (अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः—श्वेताश्वतर)

ना गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दून्यूँ बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

न तो ज्ञानी गुरु ही मिला और न शिष्य ही ज्ञान का अभिलाषी निकला। दोनों लालच का दाँव खेलते रहे और इसी कारण लालच रूपी पत्थर की नाव पर चढ़ कर ऐसे दोनों गुरु और शिष्य भवसागर में डूब गये।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चन्द्रा माँहि ।
तिहि घरि किसकौं चानिणौं, जिहि घर गोबिंद नाँहि ॥१७॥

जिसके हृदयरूपी घर में हरि नहीं है, वह चौसठ कला रूप दीपक और चौदह विद्या रूप चन्द्रमा एकत्र कर भी ले तो भी उसके अन्दर प्रकाश नहीं होगा (चाँदनी में भी अन्धकार रहेगा।)

निसि अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद ।
अति आतुर उदैं किया, तऊ दिष्टि नहीं मन्द ॥१८॥

अन्धकारमयी रात्रि (अज्ञानावस्था) के कारण चौरासी लाख योनियों में मोहाकुल भटकते हुए, तू अब अत्यन्त व्याकुल होकर मानवयोनि में उत्पन्न हुआ है। अरे मन्द प्राणी, फिर भी तेरी आँखें नहीं खुलतीं ?

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि ।
दीपक दिष्टि पतँग ज्यूँ, पड़ता पूरी जाँणि ॥१९॥

यह मेरे लिये अच्छा ही हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानि होती और माया के दीपक पर पतंगे के समान, भ्रमवश उसी को सब कुछ समझ कर, मैं न्योछावर होता रहता।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत ।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥२०॥

माया दीपक है और मनुष्य उसके लिए पतंगे के समान है जो घूमता हुआ उसीके ऊपर गिरता है। कबीर कहते हैं, कि कोई एकाध व्यक्ति ही ऐसे निकलते हैं जो गुरु से ज्ञान पाकर माया से बच सकें।

सतगुर बपुरा क्या करै, जो सिषही माँहै चूक ।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाइ फूँक ॥२१॥

यदि शिष्य में ही त्रुटि है तो सद्गुरु बिचारा क्या कर सकता है। उसे

चाहे जितना समझाओ पर सब व्यर्थ जायगा। जैसे वंशी के बजाने से फूँक बाहर निकल जाती है, उसमें ठहरती नहीं।

संसै खाया सकल युग, संसा किनहूँ न खद्ध।
जे बेधे गुर अष्षिरां, तिन संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

संशय ने सारे जग को खा लिया, पर संशय को किसी ने भी नहीं खा पाया ? हाँ, जो गुरु की शिक्षा से प्रभावित हैं उन्होंने एक-एक भ्रम को बीन-बीन कर नष्ट कर दिया है।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हीं धीर।
निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥२३॥

सद्‌गुरु ने चैतन्य की चौकी पर बैठ कर (स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर) धैर्य प्रदान किया। कबीर कहते हैं (अब) निर्भय और निःशंक होकर केवल ईश्वर का भजन करो।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥२४॥

यदि मन में भ्रम है तो सद्‌गुरु के मिलने से ही क्या होता है ? यदि पास चढ़ाने में ही (रंगने के पहले की प्रक्रिया में ही) कपड़ा विनष्ट हो गया तो बेचारी मजीठ क्या करेगी।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, ऊतरि पड़े फरंकि ॥२५॥

भवसागर में डूबे हुए थे, पर गुरु के उज्ज्वल उपदेश रूपी लहर (दया) के चमक जाने से बच गये। जब (माया का) बेड़ा जर्जर दिखाई दिया तो उससे तुरन्त उतर पड़े, अलग हो गये।

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥२६॥

गुरु और गोविन्द तो दोनों एक ही हैं। उन्हें भिन्न करने वाला केवल यह शरीर है। यदि अहंकार का नाश करके कोई व्यक्ति जीता हुआ ही मर जाय तो वह भगवान को प्राप्त कर लेता है।

कबीर सतगुरु ना मिल्या, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीख ॥२७॥

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु के न मिलने पर शिष्य की शिक्षा अधूरी ही रहती है। और (बिना सद्गुरु के) यती का केवल वेष धारण करके घर-घर भिक्षा माँगनी पड़ती है।

सतगुरु सांचा सूरिवां, तातै लोह लुहार।
कसड़ी दे कंचन किया, ताड़ लिया ततसार ॥२८॥

सद्गुरु सच्चा शूरवीर है। वह लुहार की भाँति लोहे रूप शिष्य अथवा मन को साधना की भट्ठी में तपाकर फिर घिस-घिस कर तथा रूप-कसौटी में कस कर सोने के समान चमकीला बना देता है और इस प्रकार शिष्य अथवा मन तत्व (सार) को प्राप्त कर लेता है। ततसार = तत्वसार; भट्ठी।

थापणि पाई थिति भई, सतगुरु दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा वणजिया, मानसरोवर तीर ॥२९॥

सद्गुरु के धैर्य देने पर आश्वस्त (स्थापित) और एकाग्र (स्थिर) हो गया। कबीर कहते हैं, अब मैं मानसरोवर के तट पर हीरे का वाणिज्य कर रहा हूँ। अर्थात् लोगों को ज्ञान दे रहा हूँ।

निहचल निधि मिलाइ तत, सद्गुरु साहस धीर।
निपजी मैं साझी घणा, बांटै नहीं कबीर ॥३०॥

सद्गुरु के साहस और धैर्य ने आत्मतत्व को निश्चल निधि (ब्रह्म) में मिला दिया। उत्पन्न हुई वस्तु में अनेक साझीदार हो जाते हैं, पर यह ऐसी निधि है जिसे कबीर बाँट नहीं सकता।

चौपड़ि मांडी चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा रामजन, खेलै संत विचार ॥३१॥

चतुर्मुख बाजार (संसार) के बीच में चौपड़ (जीवन-लीला) बिछादी है। उसके नीचे और ऊपर बाजार लगा हुआ है। कबीर कहते हैं, इसमें रामभक्त सन्त विचारपूर्वक बाजी खेलते हैं।

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर ॥३२॥

प्रेम का पांसा पकड़ लिया और शरीर को गोट बना लिया। सतगुरु ने दाँव बता दिया। इस प्रकार, कबीर कहते हैं, प्रभु का भक्त चौपड़ का खेल खेल रहा है।

सतगुरु हमसूँ रीझि कर, एक कह्या परसंग ।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ।।३३।।

गुरुदेव ने मेरी भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर (परमात्मा के प्रेम के विषय में) एक प्रसंग कहा जिससे प्रेम के बादल ने बरस कर समस्त शरीर को भिगो दिया ।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ ।
अंतरि भीगी आतमा, हरी भई वणराइ ।।३४।।

कबीर कहते हैं, प्रेम का बादल मेरे ऊपर आकर बरस पड़ा जिससे अन्तरात्मा तक भीग गई और साधन रूपी बनराजि हरी भरी हो गईं।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निरमल कीनी आतमा, ताथैं सदा हजूरि ।।३५।।

उस परिपूर्ण परमात्मा से परिचय हो गया जिसने समस्त सांसारिक दुःखों को मिटा दिया । आत्मा निर्मल हो गई । अब वह सर्वदा प्रभु के सामने रहती है !

ताथैं—स्थित । हजूरि—दरबार में, प्रभु के सामने ।

---

(२) सुमिरण कौ अंग

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ ।
राम कहे भला होइगा, नहि तर भला न होइ ।।१।।

कबीर कहते हैं, मैं कहता जाता हूँ और सब सुन रहे हैं । राम कहने से भला होगा, नहीं तो भला नहीं होगा ।

कबीर कह, मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेश ।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ।।२।।

कबीर कहते हैं, मैंने कह दिया; ब्रह्मा और महादेव भी कह गये हैं कि राम का नाम ही सारभूत तत्व है। सब को यही उपदेश दो।

तत्त तिलक तिहुँ लोक में, राम नांव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

राम का नाम तीनों लोकों में वास्तविक सार और तत्वों में शिरोमणि है। कबीर कहते हैं, इस राम-नाम के लिये जब भक्त अपना सिर समर्पित कर देता है तब उसकी अपार शोभा हो जाती है।

भगति भजन हरि नांव हैं, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरण सार ॥४॥

भगवान के नाम का जाप करना ही भक्ति और भजन करना है। दूसरे नाम तो अपार दुख देने वाले हैं। कबीर कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म से भगवान का नाम-स्मरण ही सार-भूत तत्व है।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥५॥

कबीर कहते हैं, भगवान का स्मरण ही सारवस्तु है और सब बातें जंजाल हैं। आदि से अन्त तक मैंने सब को देख लिया है, यहाँ अन्य सब दूसरी बातें मृत्यु रूप हैं।

च्यंता तो हरि नांव की, और न च्यंता दास।
जे कुछ चितवै राम बिन, सोइ काल की पास ॥६॥

भगवान के भक्त को केवल हरि-नाम की चिन्ता रहती है, उसे और कोई चिन्ता नहीं होती। राम के अतिरिक्त उसे जो कुछ दिखाई देता है, वह काल का पाश ही प्रतीत होता है।

पंच संगी पिव पिव करैं, छटा जु सुमिरै मन्न।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन्न ॥७॥

पाँचों इन्द्रियाँ प्रिय-प्रिय की रट लगा रही हैं और छठवाँ मन भी प्रिय का स्मरण कर रहा है। कबीर की स्मृति भी जाग्रत हो गई और उसे राम रूपी रत्न प्राप्त हो गया।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥८॥

मेरा मन राम का स्मरण कर रहा है और मेरा मन राम में ही रमण कर रहा है। अब अवस्था यह है कि मन राम ही बन गया है। फिर मैं किसके सामने शिर झुकाऊँ ?

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥९॥

तू-तू करता हुआ मैं तू ही हो गया। मेरे अन्दर अहंभाव नहीं रहा। मैं बार-बार तेरे ऊपर बलिहार जाता हूँ, न्योछावर होता हूँ। अब मैं जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखाई देता है।

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, सोवेगा दिन राति ॥१०॥

कबीर कहते हैं, निर्भय होकर राम-नाम का जप करो जब तक दीपक रूपी शरीर में चेतनता की बत्ती जल रही है। जब तेल घट जायगा और बत्ती बुझ जायगी तब तो दिन-रात सोते ही रहोगे।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणाँ, लम्बे पाँव पसारि ॥११॥

कबीर कहते हैं, सोकर तू क्या करेगा ? जाग कर भगवान का नाम क्यों नहीं जपता ? अन्त में एक दिन तो लम्बे पैर फैला कर सोना ही होगा।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जा का संग तै बीछुड़्या, ताही कै संग लागि ॥१२॥

कबीर कहते हैं, तू सोकर क्या करता है ? जाग कर देखता क्यों नहीं ? जिसके साथ से तू अलग हुआ, उसी के साथ लग जा।

कबीर सूता क्या करै, उट्ठि न रोवै दुक्ख।
जा का बासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख ॥१३॥

कबीर कहते हैं, सोया हुआ तू क्या करता है ? उठ कर दुख से भरा हुआ रुदन क्यों नहीं करता ? जिसे अन्त में गोर (कब्र) में निवास करना है, वह सुख पूर्वक क्यों सो रहा है ?

कबीर सूता क्या करै, गुण गोविन्द के गाय।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाय ॥१४॥

कबीर कहते हैं, सोया हुआ तू क्या करता है ? भगवान के गुणों का गान कर । तेरे शिर पर कभी का (महाजन की भाँति) खर्च खाये हुए यमराज खड़ा है ।

कबीर सूता क्या करै, सूताँ होइ अकाज ।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज ॥१५॥

कबीर कहते हैं, सोया हुआ तू क्या करता है ? सोने से तो हानि होती है । काल की गर्जना सुनकर ब्रह्मा का भी आसन विचलित हो गया है ।

केसो कहि कहि कूकिये, ना सोइये असरार ।
राति दिवस कै कूकणैं, कबहूँ लगै पुकार ॥१६॥

केशव का नाम लेकर पुकारो, हठ पूर्वक सोओ मत । दिनरात पुकार करने से कदाचित् वह पुकार सफल हो जाय—भगवान उसे सुन ले ।

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं नाम ।
ते नर या संसार मैं, उपजि भये बेकाम ॥१७॥

जिनके हृदय में न तो प्रीति है और न प्रेम का स्वाद; जिनकी जिह्वा पर राम का नाम नहीं रहता—वे मनुष्य इस संसार में उत्पन्न होकर भी व्यर्थ हैं ।

कबीर प्रेम न चक्खिया, चक्खि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥१८॥

कबीर कहते हैं, जिसने प्रेम को चखा नहीं और चखकर स्वाद नहीं लिया, वह उस अतिथि के समान है जो निर्जन घर में जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है—कुछ प्राप्त नहीं कर पाता ।

पहली बुरा कमाइ कर, बाँधी बिख की पोट ।
कोटि करम पिले पलक मैं, आया हरि की ओट ॥१९॥

पहले कुत्सित कमाई करके विष की गठरी बाँध ली थी । पर जब हरि की शरण आया तो करोड़ों कर्म पल भर में नष्ट हो गये ।

कोटि कर्म पैले पलक मैं, जे रंचक आवै नांउ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम बिनु ठांउ ॥२०॥

यदि भगवान का नाम थोड़ा-सा भी आ गया तो वह करोड़ों कर्मों को पल भर में नष्ट कर देता है । और चाहे अनेक युगों तक पुण्य भी करता रहे तो भी उसे राम के बिना कहीं स्थान नहीं मिल सकता ।

जेहि हरि जैसा जाणियां, तिनकूं तैसा लाभ ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लख धसै न आभ ॥२१॥

जिसने हरि को जैसा जाना, उसको वैसी ही प्राप्ति हुई । जब तक पानी मुख में प्रवेश नहीं करता, तब तक ओस के चाटने से प्यास नहीं बुझती । आभ—आब, पानी ।

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
वेस्वां केरा पूत ज्यों, कहै कौन सूं बाप ॥२२॥

प्यारे राम को छोड़कर जो अन्य किसी का जाप करता है वह वेश्या के पुत्र की भाँति किसको अपना पिता कहे ?

कबीर आपण राम कहि, औरो राम कहाइ ।
जिही मुख राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

कबीर कहते हैं, स्वयं राम-नाम लो और दूसरों से भी लिवाओ । जिस मुख से राम का नाम न निकले, उससे बार-बार कहलाओ ।

फेरि=बार बार, या उलटकर, मरा मरा=उलटा नाम जपत जग जाना, बालमीकि भये ब्रह्म समाना ।

जैसैं माया मन रमै, यूं जे राम रमाइ ।
तारा मंडल छांड़ि करि, जहाँ के सो तहाँ जाइ ॥२४॥

जैसे माया में मन रमा करता है, उसी प्रकार से यदि राम में रमण करने लगे तो इस तारा-मण्डल को छोड़कर (वह) जहाँ का निवासी है अथवा जहाँ केशव भगवान हैं, वहीं पहुँच जायगा ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि ।
पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥२५॥

राम नाम की लूट हो रही है, यदि तुम लूट सकते हो तो लूट लो । जब यह शरीर छूट जायगा तो पीछे पश्चात्ताप करोगे ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भण्डार ।
काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार ॥२६॥

यदि लूट सकते हो तो राम-नाम रूपी भण्डार को लूट लो, नहीं तो अंत में मृत्यु कण्ठ से पकड़ लेगी और दसों इन्द्रियों के द्वारों को बन्द कर देगी ।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पन्थ बहु मार ।
कहौ सन्तौ क्यूँ पाइए, दुर्लभ हरि दीदार ॥२७॥

घर दूर है, मार्ग लम्बा है, रास्ता भयंकर है और उसमें अनेक घातक चोर ठग हैं। हे सन्तो ! कहो भगवान का दुर्लभ दर्शन कैसे प्राप्त हो।

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग ।
अह निशि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग ॥२८॥

भगवान के गुणों का गान करने से त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों का नाम तक कट जाता है। अतः तू प्रभु के वियोग में व्याकुल होकर राम के नाम की रट क्यों नहीं लगाता। दिन-रात भगवान का तो ध्यान करता नहीं फिर भला उसके दुर्लभ योग (मिलाप) को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरंतां हरि नाम ।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठांम ॥२९॥

कबीर कहते हैं, भगवान के नाम-स्मरण में बड़ी कठिनाई है। यह शूली के ऊपर नट के खेल के समान है जहाँ से यदि गिर पड़ो तो बचने का ठिकाना नहीं।

कबीर रामहिं ध्याइ लैं, जिभ्या सौं करि मंत ।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत ॥३०॥

कबीर कहते हैं, जिह्वा से मन्त्रणा करके नाम का ध्यान कर लो। अनेक झीलों को देख कर भगवान रूपी समुद्र को विस्मृत मत कर दो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुख अम्रित गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधै संधि मिलाइ ॥३१॥

कबीर कहते हैं, मुख से भगवान के अमृत रूपी गुणों को गाकर भगवान को प्रसन्न कर लो। फूटे नग को जैसे संधि से संधि मिलाकर जोड़ दिया जाता है, वैसे ही इस मन को भगवान से जोड़ दो।

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, वेगै लेहु बुझाइ ॥३२॥

कबीर कहते हैं, चारों ओर अग्नि को प्रज्वलित देखकर चित्त में पीड़ा हो उठी। अतः हाथ में भगवान के स्मरण का घड़ा लेकर इस अग्नि को शीघ्र बुझा लेना चाहिये।

(३) विरह कौ अंग

रात्यूं रूंनी विरहिनी, ज्यूं बंचौं कूं कुन्ज ।
कबीर अन्तर प्रजल्या, प्रगट्या विरहा पुन्ज ॥१॥

विरहिणी (आत्मा) रात भर विरह में वैसे ही रोती रही जैसे क्रौंच पक्षी अपने बच्चों के वियोग में रोता रहता है। कबीर कहते हैं, उसका अन्तस्तल वियोगाग्नि से जल रहा है और अपार विरह प्रकट हो रहा है।

अम्बर कुन्जां कुरलियाँ, गरज भरे सब ताल ।
जिनपै गोविन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥२॥

आकाश में क्रौंच पक्षी ने विरह-विलाप किया और रुदन-धारा से सब तालाबों को भर दिया। (आकाश में क्रौंच पक्षी का मेघ जैसे किसी के वियोग में गरज कर बरस उठा हो और सब तालाब उसी जल से भर गये हों।) फिर जो भगवान से वियुक्त हुये हैं, उनकी कैसी दशा हो रही होगी ?

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुटे रामसूं, ते दिन मिले न राति ॥३॥

रात्रि में वियुक्त हुई चकवी, प्रभात होते ही चकवे से आकर मिल जाती है। परन्तु जो मनुष्य राम से वियुक्त हुये हैं वे दिन या रात कभी भी नहीं मिल पाते।

बासुरि सुख नाँ रैणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँह ।
कबीरा बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह ॥४॥

कबीर कहते हैं, जो राम से वियुक्त हुआ उसे न धूप में सुख मिलता है और न छाया में, न दिन में सुख मिलता है न रात्रि में और न स्वप्न में ही उसे सुख मिलता है।

विरहिन ऊभी पन्थ सिर, पन्थी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबरे मिलेंगे आइ ॥५॥

विरहिणी (आत्मा) राह की गली में खड़ी है और उस मार्ग से जाने वाले पथिकों से दौड़ कर पूछती है:—प्रिय का एक शब्द ही सुना दो, वे कब आकर मुझ से मिलेंगे ?

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिंव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं बिश्राम ॥६॥

हे राम ! बहुत दिनों से तुम्हारे आने की राह देख रही हूँ। मेरे प्राण तुम से मिलने के लिये तरस रहे हैं और मन में शान्ति नहीं है ।

बिरहनि ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम ।
मूवाँ पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥७॥

हे राम ! तुम्हरे दर्शनों के लिये विरहिणी (आत्मा) उठ कर भी गिर पड़ती है—अत्यन्त व्याकुल हो रही है । यदि आपने उसकी मृत्यु के पश्चात दर्शन दिये तो वे किस काम के ? (जीवन में ही मुक्त हो जाने की भावना)

मूवाँ पीछै जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणौं काम ॥८॥

कबीर कहते हैं, हे राम ! मृत्यु के पश्चात् दर्शन न दो । जब लोहा सब का सब पत्थर में परिवर्तित हो गया तब उसे पारस से क्या प्रयोजन ?

अन्देसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियाँ ।
कै हरि आया भाजिसी, कै हरि ही पासि गयाँ ॥९॥

हे ब्रह्म-पथ के पथिक ! मेरा यह सन्देश प्रभु के पास पहुँचा देना कि मेरा अन्देशा (भ्रम,खटका) दूर नहीं होता । इसे दूर करने के लिये या तो भगवान ही भागते हुए मेरे पास आ जावें या मैं ही उनके पास पहुँच जाऊँ ।

आइ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तुझ बुलाइ ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥१०॥

मैं तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकता और न तुमको ही अपने पास बुला सकता हूँ। तो क्या इसी तरह विरह में जला-जला कर मेरे प्राण लोगे ?

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूं धुवां जाइ सरग्गि ।
मति बै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ॥११॥

इस शरीर को जला कर कालोंछ कर दूँ जिससे यहाँ से धुआँ उठकर स्वर्ग तक पहुँचे । संभव है, इस क्रिया से मेरे ऊपर राम की कृपा हो जाय और वे अपनी दया की वर्षा से मेरी विरहाग्नि को बुझा दें ।

(धुआँ उठकर स्वर्ग तक जायगा तो वह भगवान की आँखों में लगेगा और स्वभावतः उनकी आँखों में आँसू आजावेंगे। कितनी विचित्र पद्धति है, भगवान को रुलाने की।)

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम को नाउँ ।
लेखनि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥१२॥

इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँ, कंकाल की लेखनी हाथ में ले लूं और उससे राम का नाम लिखूँ। इस प्रकार लिख-लिखकर अपने लेख राम के पास भेजूँ। करंक—कंकाल, अस्थिचर्मावशिष्ट शरीर।

कबीर पीर पिरावनी, पंजर पीड़ न जाइ ।
एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ ॥१३॥

कबीर कहते हैं, व्याधि की व्यथा कष्टदायक है। यह व्यथा शरीर से नहीं जाती। इसके भी ऊपर एक जो प्रेम की पीड़ा है वह तो कलेजे में छाई हुई है।

चोट सतांणी बिरह की, सब तन जरजर होइ ।
मारणहारा जांणि है, कै जिहिं लागी सोइ ॥१४॥

प्रभु-विरह की चोट सता रही है, सारा शरीर जर्जर हो रहा है। इसका ज्ञान या तो मारने वाले को होगा या उसको (भक्त को) जिसके यह चोट लगी है।

कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जुमार या मांहि ।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नांहिं ॥१५॥

हाथ में धनुष-बाण लेकर चढ़ाया और खींचकर ऐसा मारा कि वह भीतर जाकर गंभीर रूप से बिंध गया। मालूम नहीं, अब जीवन रहेगा या नहीं?

जबहूँ मारया खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि ।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि ॥१६॥

जब बाण खींचकर मारा गया, तब मुझे उसका पता चला। उससे मर्मान्तक चोट पहुँची और वह कलेजे के आरपार हो गई।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि सरि अजहू' मारिं, सर बिंनु सचु पाऊँ नहिं ॥१७॥

जिस बाण से तुमने कल मारा था, वह बाण मेरे मन में बस गया है। उसी बाण से मुझे आज भी मारो बाण के बिना (लगे) मुझे सुख नहीं मिलता।

विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ॥१८॥

बिरह रूपी सर्प शरीर में निवास करता है। कोई भी मंत्र उसे नहीं लगता। राम के वियोग को अनुभव करने वाला प्राणी पहले तो जीवित ही नहीं रहता और यदि जीवित भी रहता है तो वह बावला हो जाता है।

विरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजौ घाव ।
साधू अंग न मोड़हीं, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥१९॥

विरह रूपी सर्प ने प्रविष्ट होकर कलेजे में घाव कर दिया है, परन्तु साधक अपना अंग नहीं मोड़ेगा, शरीर से विचलित नहीं होगा, सर्प जैसे चाहे वैसे उसे खा ले।

सब रँग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साइँ कै चित्त ॥२०॥

सब नसें ताँत के रूप में हैं, शरीर रबाब नाम का बाजा है और विरह इसे प्रतिदिन बजाता है। पर इस बाजे को या तो प्रभु सुन सकता है या विरही का चित्त, और दूसरा कोई नहीं सुन सकता।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान ।
जिस घटि बिरह न सँचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥

विरह को बुरा मत कहो। विरह सुलतान है। जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता, वह हृदय सदैव श्मशान के समान है।

आँषड़ियाँ झांईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥

राम की राह देखते-देखते आँखों में झाईं पड़ गई और राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये।

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥२३॥

इस शरीर को दीपक बनालूँ, उसमें प्राणों की बत्ती डालूँ और लहू को तेल के समान सिंचित करूँ। इस प्रकार दीपक को प्रज्वलित करके मैं अपने प्रिय के मुख का दर्शन कब कर सकूँगा।

नैना नीझर लाइया, रहँट बहै निसि जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥

मेरे नेत्र निर्झर बन गये हैं और रहँटघरी के समान दिन-रात बहते रहते हैं। पपीहे के समान मैं 'पिउ-पिउ' की रट लगाती हूँ। हे राम, मालूम नहीं तुम कब मिलोगे ?

अँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जांणैं दुखड़ियाँ ।
साइँ अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥२५॥

आँखों में प्रेम का कसैलापन (लालिमा) है। मनुष्य समझते हैं कि आँखें दुख आई हैं। मैं अपने स्वामी के लिये रात भर रोती रहती हूँ।

सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिड़ांहि ।
जे लोइण लोंही चुवै, तौ जाणौं हेत हियांहि ॥२६॥

वही आँसू अपने सगे सम्बन्धी या सज्जनों की आँखों से निकलते हैं और वही बिराने अर्थात् अन्य मनुष्यों की आँखों से निकलते हैं; परन्तु जब आँसुओं के स्थान पर आँखों से लहू टपकने लगे तो समझो, इसके हृदय में प्रेम है।

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित ।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥

कबीर कहते हैं, हास-विलास दूर करदो और रोने में अपना मन लगाओ। परम प्रिय प्रेमरूप मित्र भला बिना रोये कैसे प्राप्त हो सकता है ?

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुण काठहिं खाइ ॥२८॥

यदि रोता हूँ तो बल कम होता है और हँसता हूँ तो राम क्रोध करते हैं। अतः मैं मन के अन्दर ही कलपता रहता हूँ और जैसे घुन काठ के अन्दर बैठा हुआ काठ को खाता रहता है, वैसे ही यह कलपना मेरे शरीर को नष्ट करता रहता है।

हंसि हंसि कंत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ ।
जे हाँसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिनि कोइ॥२९॥

हँस-हँस कर आज तक किसी ने अपने स्वामी को प्राप्त नहीं किया, जिसने पाया है उसने रोकर ही पाया है। यदि हँसने से ही भगवान प्राप्त हो जाते, तो अभागिनी कोई होती ही नहीं।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौं कोण सहै षरसान ।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान ॥३०॥

हँसी खेल में ही भगवान मिल जाते तो कष्ट कौन सहन करता ? जो काम, क्रोध और तृष्णा छोड़ देता है, वही भगवान को प्राप्त करता है।

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दै, आपण गया भुलाइ ॥३१॥

जीव-रूपी पुत्र पिता परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय था। परन्तु जब माया ने लोभ रूपी मिठाई उसके हाथ में देदी तो वह दौड़कर माया के साथ हो लिया और अपने स्वरूप को भूल गया।

डारी खांड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥३२॥

(जब जीव को अपने स्वरूप का बोध हुआ) तो उसने अपने अन्दर क्रोध उत्पन्न करके मिठाई पटक कर नीचे गिरा दी और वह रुदन करते हुये अपने प्रिय पिता से जाकर मिल गया।

नैनां अंतरि आचरूँ, निस दिन निरषौं तोंहिं ।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहिं ॥३३॥

हे ! ईश्वर आप हम को कब दर्शन देंगे ? वह दिन (शीघ्र) मेरे पास आवे जब मैं हृदय के अन्दर तुम्हारा ध्यान करूँ और नेत्रों से दिन-रात तुम्हें देखा करूँ।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥३४॥

कबीर कहते हैं, राह देखते-देखते सारा दिन व्यतीत हो गया, रात्रि भी राह देखते ही देखते बीत जाती है। विरहिणी के प्राण तड़प रहे हैं, पर उसे प्रिय प्राप्त नहीं होता।

कै बिरहनि कूँ मींचदे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझणां, मो पै सह्या न जाइ ॥३५॥

मुझ विरहिणी को या तो मृत्यु दे दो, या फिर अपने दर्शन दो। आठों पहर की जलन मुझ से सही नहीं जाती।

विरहणि थी तौ क्यूं रही, जली न पिव के नालि ।

रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ॥३६॥

यदि तू विरहिणी थी तो जीवित क्यों रही, प्रिय की चिता के साथ जल क्यों न गई? अरी परिग्रहशील मूर्खा! रहने दे; प्रेम को लज्जित करके मार मत।

हौं विरह की लकड़ी, समझि समझि धूँधाउँ ।

छूटि पड़ौं या विरहतैं, जे सारी ही जलि जाउँ ॥३७॥

मैं विरह की लकड़ी हूँ और यह समझ-समझ कर धुआँ दे रही हूँ कि या तो इस विरह से पृथक हो जाऊँ या फिर सम्पूर्ण रूप से जल ही जाऊँ।

कबीर तन मन यौं जल्या, विरह अगनि सूँ लागि ।

मृतक पीड़ न जाणई, जाणैंगी यहु आगि ॥३८॥

कबीर कहते हैं, विरह की अग्नि में पड़कर मेरा शरीर और मन इस प्रकार जल गये हैं कि उन्हें अब (मृतक निर्जीव शरीर) की भाँति पीड़ा का अनुभव ही नहीं होता। यह अग्नि जो लगी है वह भले ही जलन का अनुभव करे।

विरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाउं ।

मो देख्यां जलहरि जलै, संतौ कहां बुझाऊं ॥३९॥

जलटर—जलधर—तालाब

विरहाग्नि द्वारा जलाई हुई मैं जल रही हूँ और इसी अवस्था में (अपनी जलन बुझाने के लिये) तालाब के पास जाती हूँ। पर वह तालाब मुझे देखते ही स्वयं जलने लगता है। हे सन्तो! बताओ, मैं अपनी जलन को शान्त करने के लिये कहाँ जाऊँ।

परवति परवति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ ।

सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥४०॥

पर्वत-पर्वत पर मैं घूमता रहा और रो-रोकर मैंने नेत्रों की ज्योति भी खो दी। पर वह बूटी मुझे नहीं मिली जिससे जीवन प्राप्त होता है।

फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराऊँ ।

जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊं ॥४१॥

कमलड़ी-कम्बल। पटोला-रेशमी वस्त्र। धज-चीर, टुकड़ा।

मैं रेशमी वस्त्रों को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दूँ और कम्बल धारण कर

लूँ । जिस–जिस वेष में मुझे भगवान मिल सकते हैं मैं वही वेष बनाने के लिये प्रस्तुत हूं ।

नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुझ ।
ना तू मिलै न मैं खुसी, ऐसी वेदन मुझ ॥४२॥

तुझे क्षण-क्षण में ढूँढते हुए मेरे नेत्र जल गये । न तो तू ही मिला और न मैं ही प्रसन्न हो सकी—ऐसी वेदना मेरे अन्दर व्याप्त हो रही है ।

भेला पाया सरप सौं, भौसागर के मांहि ।
जे छांड़ौं तो डुबि हौं, गहौं त डसिये बांहि ॥४३॥

संसार-रूपी समुद्र में माया-रूपी सर्प से भेंट हुई है । यदि इसे छोड़ता हूँ तो समुद्र में डूबता हूँ और यदि पकड़ता हूँ तो यह मुझे बाहु में डस लेगा ।

रैंणा दूर विछोहिया, रहु रे सँषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देशी ऊगे सूरि ॥४४॥

अरे शंख (जीव) ! तू अपने पिता समुद्र (परमात्मा) से वियुक्त होकर दूर पड़ा है । रात्रि का समय है । अब तू यहीं सूखे रेत (कष्टमयी अवस्था) में पड़ा रह । जब सूर्य (प्रबोध) उदय हुआ होगा, तब तू देवालय-देवालय में धाड़ मारकर रोवेगा ।

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥४५॥

कबीर कहते हैं कि सारा संसार सुखी है, खाता है और सोता है । केवल भक्त ही दुखी है जो जागता है और रोता है ।

४–ग्यान विरह कौ अंग

दीपक पावक आंणियाँ, तेल भी आंण्या संग ।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥१॥

दीपक ज्ञान और अग्नि कर्म लाये गए। उनके साथ तेल (भक्ति या प्रेम) भी लाया गया। जब तीनों ने मिलकर प्रकाश किया तो पतंगे (प्रेमी साधक) उस पर उड़-उड़ कर गिरने लगे।

मार्‌या है, जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै कालिह ॥२॥

जिसने मारा है, हिंसा की है, वह बाण के बिना अथवा बिना नोंक वाले निस्सार भाले से ही मर जायगा। संसाररूपी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ वह चिल्ला रहा है। वह या तो आज मर जायगा या कल। (सर-बाण अथवा नोंक)

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूंवां प्रगट न होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥३॥

हृदय के अन्दर दावाग्नि जल रही है, परन्तु धुआँ प्रकट रूप से दिखलाई नहीं देता। इस अग्नि को या तो वह देख सकता है जिसके अन्दर यह लगी है, या वह जिसने इसे प्रज्वलित किया है।

झल उठी, झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही भभूति ॥४॥

(ज्ञान की) अग्नि शिखा प्रज्वलित हुई जिससे झोली (सांसारिक स्मृति, वासनाओं का कोष) जल गई और खपरा (शरीर) फूट गया। जो योगी (आत्मा) था, वह निकल गया। अब आसन (संसार) पर केवल विभूति (कीर्ति) रह गई है।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥५॥

मानस के प्रेमरूपी पानी में जब ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई तो वासनारूपी समस्त कीचड़ जल गई। उत्तरायण और दक्षिणायन का विचार करने वाले ज्ञानतप दुर्विदग्ध पंडित केवल विचार करते ही रह गये।

दौं लागी, साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाइ ॥६॥

सद्गुरु ने मेरे अन्दर ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित की है जिससे सांसारिकता का समुद्र जल रहा है और विवेक वैराग्य आदि के पक्षी वहाँ आकर बैठ रहे हैं। अब इस जली हुई देह की मैं रक्षा नहीं करूँगा।

लूँ । जिस–जिस वेष में मुझे भगवान मिल सकते हैं मैं वही वेष बनाने के लिये प्रस्तुत हूं ।

नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुझ ।
ना तू मिलै न मैं खुसी, ऐसी वेदन मुझ ॥४२॥

तुझे क्षण-क्षण में ढूँढते हुए मेरे नेत्र जल गये । न तो तू ही मिला और न मैं ही प्रसन्न हो सकी—ऐसी वेदना मेरे अन्दर व्याप्त हो रही हैं ।

भेला पाया सरप सौं, भौसागर के मांहि ।
जे छांड़ौं तौ डुबि हौं, गहौं त डसिये बांहि ॥४३॥

संसार-रूपी समुद्र में माया-रूपी सर्प से भेंट हुई है । यदि इसे छोड़ता हूँ तो समुद्र में डूबता हूँ और यदि पकड़ता हूँ तो यह मुझे बाहु में डस लेगा ।

रैंणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देशी ऊगे सूरि ॥४४॥

अरे शंख (जीव) ! तू अपने पिता समुद्र (परमात्मा) से वियुक्त होकर दूर पड़ा है । रात्रि का समय है । अब तू यहीं सूखे रेत (कष्टमयी अवस्था) में पड़ा रह । जब सूर्य (प्रबोध) उदय हुआ होगा, तब तू देवालय-देवालय में धाड़ मारकर रोवेगा ।

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥४५॥

कबीर कहते हैं कि सारा संसार सुखी है, खाता है और सोता है । केवल भक्त ही दुखी है जो जागता है और रोता है ।

४–ग्यान बिरह कौ अंग

दीपक पावक आंणियाँ, तेल भी आंण्या संग ।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥१॥

दीपक ज्ञान और अग्नि कर्म लाये गए। उनके साथ तेल (भक्ति या प्रेम) भी लाया गया। जब तीनों ने मिलकर प्रकाश किया तो पतंगे (प्रेमी साधक) उस पर उड़-उड़ कर गिरने लगे।

मार्‍या है, जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै कालि ॥२॥

जिसने मारा है, हिंसा की है, वह बाण के बिना अथवा बिना नोंक वाले निस्सार भाले से ही मर जायगा। संसाररूपी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ वह चिल्ला रहा है। वह या तो आज मर जायगा या कल। (सर- बाण अथवा नोंक)

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूंवां प्रगट न होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥३॥

हृदय के अन्दर दावाग्नि जल रही है, परन्तु धुआँ प्रकट रूप से दिखलाई नहीं देता। इस अग्नि को या तो वह देख सकता है जिसके अन्दर यह लगी है, या वह जिसने इसे प्रज्वलित किया है।

झल उठी, झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही भभूति ॥४॥

(ज्ञान की) अग्नि शिखा प्रज्वलित हुई जिससे झोली (सांसारिक स्मृति, वासनाओं का कोष) जल गई और खपरा (शरीर) फूट गया। जो योगी (आत्मा) था, वह निकल गया। अब आसन (संसार) पर केवल विभूति (कीर्ति) रह गई है।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥५॥

मानस के प्रेमरूपी पानी में जब ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई तो वासनारूपी समस्त कीचड़ जल गई। उत्तरायण और दक्षिणायन का विचार करने वाले ज्ञानतप दुर्विदग्ध पंडित केवल विचार करते ही रह गये।

दौं लागी, साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाइ ॥६॥

सद्गुरु ने मेरे अन्दर ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित की है जिससे सांसारिकता का समुद्र जल रहा है और विवेक वैराग्य आदि के पक्षी वहाँ आकर बैठ रहे हैं। अब इस जली हुई देह की मैं रक्षा नहीं करूंगा।

गुर दाधा, चेला जल्या, विरहा लागी आगि ।
तिणका वपुड़ा ऊबस्या, गलि पूरै कै लागि ।।७।।

जब विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई तो उससे गुरु भी दग्ध हुए और शिष्य भी जलने लगा; परन्तु बेचारा तिनका (नम्र,प्रणत भक्त) जलने से बच गया, क्योंकि वह परिपूर्ण प्रभु के गले से लगा था, उनके आश्रय में रहता था।

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारै रोइ ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है वन सोई ।।८।।

आखेटकर्ता बधिक (ज्ञान) ने वन (संसार) में (विरह की अग्नि) लगा दी। वनवासी मृग (तृष्णा और मोह) उसे देखकर रोने और चिल्लाने लगे। वे कहने लगे कि जिस वन में इतने दिन क्रीड़ा की थी, आज वही बन जल रहा है।

पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि ।
बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि ।।९।।

मानस के प्रेमरूपी पानी में जब विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई तो उसने अपार बल धारण किया। जो वासनारूपी सरिता प्रवृत्ति के रूप में अब तक वह रही थी, वह रुक गई और मछली रूपी आत्मा जल छोड़कर बाहर हो गई।

समन्दर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि, मंछी रुखां चढ़ि गई ।।१०।।

हृदय रूपी समुद्र में ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई। वासनारूपी सरितायें जो समुद्र में आकर मिलती थीं जल कर कौला (राख) हो गईं। मछली रूपी आत्मा मेरुदण्ड पर (जिसमें सुषुम्णा नाड़ी है) चढ़ गई। कबीर कहते हैं, मैं इस दृश्य को देखते ही जग पड़ा।

५-परचा कौ अंग

परचा = परिचय

कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ।।१।।

सेणि = सेना समूह

कबीर कहते हैं, अनन्त ब्रह्म का तेज ऐसा है जैसे अनेक सूर्यों का समूह उदय हो रहा हो। पति (परमात्मा) के साथ जो सुन्दरी (आत्मा) जगती रही है, उसी ने इस कौतुक का दर्शन किया है।

कौतिग दीठा देह बिन, रवि शशि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाही दास ॥२॥

यह कौतुक शरीर के बिना अर्थात् निराधार रूप में देखा गया है। इसके सामने सूर्य और चन्द्र का प्रकाश क्षीण हो जाता है। स्वामी की सेवा में भक्त चिन्ताओं से मुक्त रहता है।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥३॥

परमात्मा के तेज का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यदि उसका वर्णन किया जाय तो शोभा नहीं देता। उसका तो साक्षात्कार ही प्रमाण रूप है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहाँ) पाप पुन्य नहीं छोति ॥४॥

प्रभु अगम्य है, अगोचर है, उस तक कोई पहुँच नहीं सकता। वहाँ ज्योति जगमगा रही है। कबीर कहते हैं, जहाँ भक्ति एवं प्रणति है वहाँ पाप, पुण्य और छूत नहीं होते।

हदे छांड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास।
कवल ज फूल्या फूल बिन, को नरषै निज दास ॥५॥

मैं ससीम को छोड़कर असीम में पहुँच गया हूँ और वहाँ निरन्तर निवास कर रहा हूँ। वहाँ (सहस्रार चक्र में) कमल फूलों के बिना ही विकसित हो रहा है, पर इस दृश्य को भगवान का कोई विशेष भक्त ही देख सकता है।

हद = आज्ञाचक्र, बेहद = सहस्रार।

कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरंतर बास।
कवल ज फुल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥६॥

कबीर कहते हैं, मेरा मन आज भ्रमर बन गया है और इस कमल के पास निरन्तर निवास कर रहा है। इस कमल को जो पानी के बिना ही विकसित हुआ है, भगवान का कोई विशेष भक्त ही देख सकता है।

अन्तरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होई ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जांणैगा जन कोई ॥७॥

ब्रह्माण्ड के अन्दर कमल विकसित हो रहा है। वहीं ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भ्रमर वहाँ लुब्ध हो गया है—इस तथ्य को विरले मनुष्य ही जान सकते हैं।

सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूंद भी नाहिं ।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ॥८॥

कबीर कहते हैं, न वहाँ समुद्र है, न सीप है, न स्वाति नक्षत्र की बूँद है, फिर भी इस शून्य शिखर गढ़ के अन्दर मोती उत्पन्न हो रहे हैं।

घट मांहै औघट लह्या, औघट मांहैं घाट ।
कहिं कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥९॥

कबीर कहते हैं, गुरु ने मार्ग दिखा दिया और (ब्रह्म से ?) मेरा परिचय हो गया है। जिसे साधारण मनुष्य घाट समझते हैं, वह मुझे घाट नहीं समझ पड़ता। जो अन्यों के लिए औघट अर्थात घाट नहीं है वह मुझे घाट समझ पड़ता है।

सूर समांणां चंद मैं, दूहूँ किया घर एक ।
मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥१०॥

सूर्य (पिंगला नाड़ी) चन्द (इडा नाड़ी) में समा गया और दोनों ने एक घर (सुषुम्ना नाड़ी) बना लिया। यह मन का चाहा हुआ किसी पूर्व भाग्य का फल है।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥११॥

मैं हद (आज्ञा चक्र) का उल्लंघन करके बेहद (असीम-सहस्रार चक्र) में पहुँच गया हूँ। मैंने इस शून्य गगन में स्नान किया है। मुनि जन भी जिस महत्व को प्राप्त नहीं कर पाते, मैं वहाँ विश्राम कर रहा हूँ।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥१२॥

कबीर के कर्म को तो देखो, यह उसके किसी पूर्व जन्म के कर्म-विपाक का

ही फल है कि जिसके महत्व को मुनि भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस निराकार प्रभु को कबीर ने अपना मित्र बना लिया है।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त ।
संसा खूटा, सुख भया, मिल्या पियारा कन्त ॥१३॥

इस शरीर में ही प्रभु का प्रेम प्रकाशित हो गया। अनन्त योग जग गया। संशय नष्ट हो गया। सुख का उदय हो गया और प्यारा प्रभु प्राप्त हो गया।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास ।
मुखि कस्तूरी महमही, वाणी फूटी बास ॥१४॥

इस शरीर में ही प्रभु का प्रेम प्रकाशित हो गया। अन्दर उजाला हुआ। मुख में कस्तूरी की महक निकलने लगी और वाणी से सुगन्ध की लपटें उठने लगीं।

मन लागा उन्मन्न सौं, गग पहूँचा जाइ ।
देखा चंद विहूँणाँ चाँदिणां, तहाँ अलख निरंजन राइ ॥१५॥

मन उन्मनी अवस्था से लगकर, संसार से उपरामता धारण कर, सहस्रार चक्र में पहुँच गया। वहाँ चन्द्र के बिना ही चाँदनी (आत्म ज्योति) छिटक रही है और निराकार निरंजन प्रभु निवास कर रहे हैं।

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं विलग ।
लूंण विलगा पाणियां, पाँणीं लूँण विलग ॥१६॥

संसार में लगा हुआ मन आज संसार से उपरामता धारण कर चुका है, उन्मनी अवस्था प्राप्त हो गई है। यह उन्मनी अवस्था सांसारिक मन से एकदम पृथक है। आज गूँथे हुये आटे की पिंडी से पानी अलग हो गया है और पानी से आटा अलग हो गया है। अथवा पानी से नमक और नमक से पानी पृथक हो गया है। (लूंड = गूंथा हुआ आटा या नमक।)

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥१७॥

पानी ही से हिम बनी थी और हिम विलीन होकर फिर पानी बन गई। जो वास्तविक तत्व था, वही रह गया। उसके सम्बन्ध में अब कुछ कहा नहीं जा सकता। (पानी = ब्रह्म; हिम = स्थूल शरीर)

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि ।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि ॥१८॥

अच्छा हुआ जो आत्मा रूपी पाला पृथ्वी पर गिर पड़ा और अपनी सारी दशा को भूल गया। पृथ्वी पर पड़कर ही तो पाला गल कर पानी बनता है और ढरकता हुआ समुद्र (परमात्मा) के उस तट से जाकर मिल जाता हैं।

चौहटै च्यन्तामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।

मीरा मुझसूँ मिहिर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥१९॥

संसाररूपी चतुमुर्ख बाजार में आत्मारूपी चिन्तामणि बिकने पहुँची तो माया ने उस पर अपना हाथ सफा कर ही तो दिया। अब यह आत्मा व्याकुल होकर प्रभु से प्रार्थना करती है कि हे मेरे मीर, हे मेरे सदगुरु दया करो। अब मैं किसी के साथ नहीं मिलूँगी।

पंषि उडाणीं गगन कूं, प्यण्ड रहा परदेस।

पाणीं पिया चन्च बिन, भूलि गया यहु देस ॥२०॥

पक्षी (आत्मा) आकाश (सहस्रार चक्र) की ओर उड़ गया। पिण्ड (शरीर) परदेश (इस संसार) में पड़ा रह गया। आत्मा (पक्षी) सहस्रार चक्र में चोंच (इंद्रियों) के बिना ही पानी पी रहा है और इस देश (संसार) को भूल गया है।

पंषि उड़ानी गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।

जिहिं सर मण्डल भेदिया, सो सर लागा कान ॥२१॥

पक्षी (आत्मा) आकाश की ओर उड़ी और उड़कर आसमान पर चढ़ गई। जिस (अनाहत) स्वर से यह मंडल (ब्रह्माण्ड) व्याप्त हो रहा है वही स्वर उसके कानों में गूंज रहा है।

सुरति समांणीं निरति मैं, निरति रही निरधार।

सुरति निरति परचा भया, बब खूले स्यंभ दुवार ॥२२॥

सुरति (आत्मा) निरति (परमात्मा) में समा गई। परमात्मा निराधार रहता है। जब आत्मा का परमात्मा से परिचय हुआ तो महादेव का दशवाँ द्वार (सहस्रार खुल गया)

सुरति समांणी निरत मैं, अजपा माँहैं जाप।

लेख समाणाँ अलेख मैं, यूँ आपा मां हैं आप ॥२३॥

आत्मा परमात्मा में, जपने वाला न जपने वाले में, दृश्य (सगुण) अदृश्य निर्गुण में, अथवा आप अपनेपन में ही समा गया। अजपाजाप—श्वास प्रश्वास में सोऽहम् की अनुभूति)

आया था संसार, मैं, देषण कौं बहु रूप ।
कहै कबीरा संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप ॥२४॥

कबीर कहते हैं हे सन्तों ! मैं संसार में विविध रूपों को देखने के लिए आया था, पर (यहाँ पर) वह अनुपम परमात्मा मुझे दिखाई दे गया ।

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर ।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥२५॥

प्रभु को देखते ही मन में धैर्य नहीं रहा और मैंने उनसे अंक भर के भेंट की । कबीर कहते हैं, जब तक दो शरीर हैं, द्वैत की भावना है, तब तक वे प्रभु कैसे मिल सकते हैं ?

सचु पाया, सुख ऊपनां, अरु दिल—दरिया पूरि ।
सकल पाप सहजैं गए, जब साईं मिल्या हजूरि ॥२६॥

प्रभु-दर्शन से मेरा हृदयरुपी समुद्र भर गया, सुख उत्पन्न हुआ और शान्ति प्राप्त हुई । जब सामने स्वामी मिल गये तो सब पाप सुगमता से नष्ट हो गये ।

धरती-गगन-पवन नहीं, होता नहीं तोया नहीं तारा ।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा ॥२७॥

कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि जब पृथ्वी, आकाश, पवन, जल और नक्षत्र कुछ भी नहीं रहते, तब भी भगवान और भगवान के भक्त रहते हैं ।

जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट ।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखे औघट घट ॥२८॥

जिस दिन मैं कृतात्मा अर्थात् आप्तकाम बना उस दिन यह हाट (संसार) और पट (संसारिक पदार्थ) कुछ भी नहीं रहे । हे राम के भक्तों ! उस समय वहाँ कबीर ही कबीर था जिसने औघट घाट के दर्शन किये हैं ।

थित पाई, मन थिर भया, सतगुरु करी सहाय ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राय ॥२९॥

मुझे स्थिति प्राप्त हो गई । मन स्थिर हो गया सद्गुरु ने मेरी सहायता की । शरीर से अनन्य कथा का आचरण होने लगा और हृदय में त्रिलोकी नाथ का अनुभव होने लगा ।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप ।
निस बासुरि सुख निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप ।३०।

जब मेरे अन्तरात्मा में परमात्मा प्रकट हुये तो उनकी संगति से मैं शीतल हो गया, मोह का संताप दूर हो गया और दिन-रात सुख की निधि प्राप्त होने लगी ।

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहीं न जाइ ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥३१॥

प्रज्वलित अग्नि शान्त हो गई और मैं अग्नि से फिर जल में परिवर्तित हो गया, दुखो से सुखी हो गया । शरीर के अन्दर ही मन संतुष्ट हो गया । अब वह बाहर कहीं नहीं जाता ।

तत पाया, तन बीसर्या, जब मनि धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान ॥३२॥

जब मन से प्रभु का ध्यान किया तो शरीर विस्मृत हो गया और तत्व मिल गया । जब शून्य गगन में स्नान किया तो संताप दूर हो गया और शीतलता प्राप्त हुई ।

शून्य—सहस्रार चक्र—सहस्रदल कमल,जिसकी नाल ऊपर (हिन्दुओं की चोटी के नीचे) और विकसित पंखड़ियाँ नीचे की ओर होती हैं । इसीके अन्दर चंद्राकार बिन्दु से अमृत टपकता है । इसी को औंधा कुआं, मानसरोवर और क्षीरसागर भी कहते हैं ।

जिनि पाया तिनि सू गहगह्या, रसनां लागी स्वादि ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥३३॥

मुझे अद्भुत रत्न प्राप्त हो गया । संसार में तो व्यर्थ ही मैं सुख की खोज करता रहा । जो मनुष्य उसे प्राप्त कर लेते हैं उन्हें वह अत्यन्त गंभीर जान पड़ता है और उनकी रसना उसके आस्वादन में लग जाती है ।

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ ।
सायर माँहि ढंढ़ोलतां, हीरै पड़ि गया हथ्थ ॥३४॥

स्याबति—साबित—पूर्ण

कबीर कहते हैं, समर्थ प्रभु फल के रूप में मुझे प्राप्त हो गया । मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया । संसार रूपी समुद्र में ढूँढ़ते हुए हीरा मेरे हाथ में पड़ गया ।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहिं ॥३५॥

जब अहंकार था तब ब्रह्म का ज्ञान नहीं था। अब भगवान सामने हैं तो अहंकार नष्ट हो गया। जब उस ज्योति को अपने अन्दर ही देख लिया तो सब अंधकार जाता रहा।

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ ।
धनि मैली पिव उजला, लागि न सकों पाइ ॥३६॥

जिसके लिए मैं ढूंढ़ खोज कर रहा था, वह आकर मुझे सामने ही मिल गया। स्त्री (मैं) मलिन और प्रिय (भगवान) निर्मल है। फिर मैं कैसे उसके चरणों में लगूं ?

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर ।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥३७॥

जिसे पाने के लिए मैं जा रहा था, वह अपने स्थान पर ही प्राप्त कर लिया। जिसको मैं अन्य समझता था, वही मेरा अपना हो गया।

कबीर देख्या एक अँग, महिम कही न जाय ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रहा समाय ॥३८॥

कबीर ने प्रभु के केवल एक अंग के दर्शन किए, पर उस एक अंग की ही महिमा कहते नहीं बनती। वह प्रकाश का पुंज, पारस के समान सम्पत्ति-शाली मेरे नेत्रों में समाया हुआ है।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं ।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥३९॥

मानसरोवर जल से अच्छी तरह भरा है, हंस (मुक्तात्मा) उसमें क्रीडा कर रहे हैं, मुक्ति रूपी मोतियों को खा रहे हैं और अब वहाँ से उड़ कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते।

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली कवल प्रकास ।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥४०॥

गगन में गर्जना हो रही है, अमृत टपक रहा है, केले और कमल विकसित हो रहे हैं। कबीर कहते हैं, वहाँ भगवान का कोई विशेष भक्त ही प्रणति में निरत होता है।

नींव बिंहूणाँ देहुरा, देह बिंहूंणाँ देव ।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव ॥४१॥

देवालय निराधार (नींव के बिना) खड़ा है। उसमें शरीर से विहीन देव विराजमान हैं। कबीर वहाँ ठहर कर अलख प्रभु की सेवा कर रहा है।

देवल माँहैं देहुरी, तिल जेहै विसतार ।
माहैं पाती माँहिं जल, माँहैं पूजणहार ॥४२॥

देवालय में देहली विस्तार में तिल के समान (सूक्ष्म) है। अन्दर ही पत्ते हैं, अन्दर ही जल है और अन्दर ही पुजारी विद्यमान है।

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर ।
निस अँधियारी मिटि गई, बागे अनहद नूर ॥४३॥

ज्ञान रूपी निर्मल सूर्य के उदय होने से हृदय रूपी कमल विकसित हो गया। (मोह की) अंधकार मयी रात्रि नष्ट हो गई और अनहद नाद की ज्योति फैल गई।

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान ।
अविगत अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥४४॥

अनहद नाद गूंज रहा है, अमृत का निर्झर झर रहा है, ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो रहा है। अविगत प्रभु अन्तस्तल में प्रकट हो रहा है और उसके प्रेम में मेरा ध्यान लगा हुआ है।

अकासे मुखि, औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि ।
ताका पाणीं को हंसा पीवै, विरला आदि बिचारि ॥४५॥

शिररूपी आकाश में उलटे मुखवाला सहस्रार चक्र रूपी कूप है। मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी निवास करती है। परमहंस उस कूप के अमृत जल का पान कर रहे हैं। इस आदि रहस्य का विचार विरले व्यक्ति ही कर पाते हैं।

सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि ।
जल मैं सिंध जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥४६॥

शिव और शक्ति की दिशाओं के कोणों में ढूँढ़ना व्यर्थ है। पश्चिम दिशा में तो धूल उड़ रही है, अरब का रेगिस्तान है, उधर मुख करके नमाज

पढ़ने से क्या लाभ ? ये बातें ऐसी ही हैं, जैसे जल में सिंह का घर बनाकर रहना और मछली का खजूर के वृक्ष पर चढ़ना अर्थात् असम्भव।

अमृत बरिसै, हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल ।
कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्या पार ॥४७॥

सहस्रार चक्र से अमृत की वर्षा हो रही है, हीरा रूपी ज्ञान उत्पन्न हो रहा है, टकसाल (उत्पति स्थान) में घंटा (अनहद नाद) गूंज रहा है। जुलाहा कबीर पारखी बनकर और निर्भय होकर भवसागर से पार हो गया।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि ।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥४८॥

ममता अब मेरा क्या बिगाड़ सकती है ? प्रेम ने ड्यौढ़ी के द्वार खोल दिये हैं। दयालु प्रभु के दर्शन हो गये और शूली मेरे लिये सुख की चादर बन गई।

६—रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१॥

कबीर कहते हैं, मैंने भगवद्भक्ति रूपी रस का ऐसा पान किया है कि अब कुछ भी थकावट शेष नहीं रही है। अब मैं कुम्भकार के उस पके हुए घड़े के रूप में हूँ जो पुनः चाक पर नहीं चढ़ाया जाता।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल ।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल ॥२॥

कबीर कहते हैं, राम-रसायन या प्रेम-रस पीने में बड़ा रसीला है, मधुर है। परन्तु उसका पीना दुर्लभ है, क्योंकि कलाल पीनेवाले से शिर माँगता है। (अहंकार के परित्याग से ही भगवद्भक्ति रूपी रस का आस्वादन किया जा सकता है।)

कबीर भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ ॥३॥

कबीर कहते हैं, कलाल की भट्ठी पर अनेक व्यक्ति आकर बैठते हैं, परन्तु उनमें से जो शिर समर्पित कर देता है, वही रस पी सकता है, अन्य नहीं ।

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत रहै, नांही तन की सार ॥४॥

'इसने हरि-रस पिया है'—यह तभी समझना चाहिए जब उसका नशा कभी दूर न हो । मदमत्त हाथी की भाँति वह घूमता रहे और शरीर को भी सम्हाल न सके ।

मैमंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह ।
बारि जु बांध्या प्रेम के, डारि रह्या सिरि षेह ॥५॥

मदमत्त हाथी (प्रभु के प्रेम में मग्न भक्त) तिनके नहीं चरता (भोजन नहीं करता) क्योंकि उसे मृत्यु का स्नेह व्यथित कर रहा है । प्रेम के द्वार पर बाँधा गया है, अतः शिर (अभिमान) पर धूल डाल रहा है ।

मैमंता अविगत रता, अकलप आशा जीति ।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥६॥

मदमत्त हाथी की भाँति प्रभु के प्रेम में मग्न भक्त प्रभु में अनुरक्त रहता है और अकल्पनीय आशाओं को जीत लेता है । राम के नशे में मस्त हो वह जीवन में ही मुक्ति पाकर संसार से पृथक हो जाता है ।

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि-मलि न्हाइ ।
देवल बूड़ा कलस सूं, पंषि तिसाई जाइ ॥७॥

जिस तालाब में घड़ा डूबने तक का जल न था, अब उसमें मदमत्त हाथी मल-मल कर स्नान कर रहा है । परन्तु जो देवालय अपने कलश सहित जल में डूबे हुये हैं, उन पर बैठकर पक्षी (जीव) प्यासा ही लौट-जाता है । (मूर्ति पूजा की निन्दा) ।

सबै रसांइण मैं किया, हरि सा और न कोई ।
तिल एक घट में संचरै, तौ सब तन कन्चन होइ ॥८॥

मैंने सब रसायनों का अनुभव किया है, पर भगवान रूपी रसायन की

समता अन्य कोई भी रस नहीं कर सकता । यह भगवान यदि एक पल के लिए भी हृदय में सञ्चरित हो उठें, तो समस्त शरीर स्वर्ण बन जाता है । (रसाइण = कायाकल्प)

७—लांबि कौ अंग

लांबि=विशालता, असीमता

काया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर ।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटै सरीर ॥१॥

शरीर रूपी कमंडल को प्रेम के उज्ज्वल और निर्मल जल से भर लिया । शरीर और मन के अनन्य उत्साह के महान समय (यौवन) में खूब छककर इसे पीता रहा । फिर भी शरीर की प्यास दूर न हुई । (सांसारिक प्रेम की पिपासा अतृप्त रहती है । यहाँ भी असीमता है ।)

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलिमलि न्हांन ।
थाहत थाह न पावई, तूं पूरा रहिमान ॥२॥

मन विषय-वासनाओं से विमुख होकर, प्रेम के समुद्र में डूब गया और मल-मल कर स्नान करने लगा । थाह पाने की चेष्टा की, तो वह नहीं मिली । प्रभु ! तू पूर्ण दयालु है । (पारमार्थिक-प्रेम की असीमता भी वैसी ही अथाह है ।)

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥३॥

कबीर कहते हैं, हे सखी, ब्रह्म को खोजते-खोजते मैं स्वयं खो गया । जो बूँद समुद्र में समा गई, वह खोजने से कैसे मिल सकती है ?

बूँद—जीवात्मा; समुद्ररूप परमात्मा का अंश ।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय ।
समंद समाना बूंद में, सो कत हेर्‌या जाइ ॥४॥

कबीर कहते हैं, हे सखी, ब्रह्म को खोजते-खोजते मैं स्वयं खो गया। यह प्रपंच-रूप समुद्र अपने कारण प्रभु-रूप बूँद में समा गया। खोजने पर अब वह कैसे मिल सकता है ?

८-जर्णा कौ अंग

जर्णा—परिपक्वावस्था

भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहूं तो झूंठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥१॥

मैं राम को क्या जानूं ? नेत्रों से तो उसे कभी देखा नहीं। यदि उसे मैं भारी कहता हूँ, तो बहुत भय लगता है और हलका कहता हूँ, तो झूठ होगा।

दीठा है तौ कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरिषि गुणगाइ ॥२॥

मैंने प्रभु को देखा भी है तो उसका वर्णन कैसे करूँ ? और वर्णन करूँ भी तो मेरे कहने का कौन विश्वास करेगा ? अतः प्रभु जैसा है, वैसा ही रहे। भक्त को तो प्रसन्न हो-होकर उसका गुणगान करना चाहिये।

ऐसा अदभुत जिनि कथै, अदभुत राखि लुकाइ।
वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यां न को पतियाइ ॥३॥

ऐसे अद्भुत ब्रह्म का वर्णन मत करो। इस अलौकिक ब्रह्म को अन्तस्तल में ही छिपाकर रखो। वेद और कुरान भी उसका वर्णन नहीं कर सके। और यदि वर्णन किया भी जाता है, तो उस पर कोई विश्वास नहीं करता।

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पांव दे, पहुँचैंगे परवान ॥४॥

प्रभु की गति अगम्य है। तू अपनी शक्ति के अनुकूल पथ पर चल। धीरे-धीरे पैर रख। इस प्रकार प्रामाणिक स्थल (प्रभु) तक पहुँच सकेगा।

पहुँचैंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ ।
अजहूँ बेरा समँद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ ॥८॥

जब वहाँ पहुँचेंगे तो आनंदपूर्वक उस स्थान पर विश्राम करेंगे और तभी उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकेंगे । हमारा बेड़ा तो आज भी समुद्र के बीच में पड़ा है, फिर किसी को कुछ कहकर क्यों धोखा दें ।

९—हैरान को अंग

पंडित सेती कहि रहे, कह्यां न मानै कोइ ।
ओ अगाध एका कहै, भारी अचिरज होइ ॥१॥

मैं पंडितों से कहता हूँ, पर मेरे कहने को कोई नहीं मानता । जब मैं उस प्रभु को अगाध और एक कहता हूँ, तो उन्हें भारी आश्चर्य होता है ।

बसै अपण्डी पण्ड मैं, ता गति लखै न कोइ ।
कहै कबीरा संत हो, बड़ा अचंभा मोइ ॥२॥

अपण्डी = अशरीरी, निराकार

कबीर कहते हैं, निराकार प्रभु साकार शरीर में रहता है; परन्तु उसकी गति को कोई भी देख नहीं पाता । हे सन्तो, मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है ।

१०—लै को अंग

जिहि बन सीह न संचरे, पंषि उड़े नहीं जाइ ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१॥

जिस बन में सिंह विचरण नहीं करता, पक्षी जाकर नहीं उड़ता; जहाँ रात्रि और दिवस नहीं होते; वहाँ कबीर ध्यान लगाये बैठा है ।

सुरति ढीकुली, लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार ।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै बार बार ॥२॥

सहस्रदल कमल रूपी कूप में प्रेम रस भरा हुआ है, जिसे मन सुरति रूपी ढेकली में ध्यान रूपी रस्सी बाँधकर खींचा करता है और उसे बार-बार पीता है ।

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट ।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ॥३॥

इडा और पिंगला रूपी यमुना तथा गंगा हृदय के अन्दर ही हैं । उन पर ध्यान रूपी घाट बना हुआ है । इसी घाट द्वारा पार होकर सहज शून्यावस्था में कबीर ने अपने निवास के लिये मठ बना रखा है । मुनिजन वहाँ पहुँचने की अभी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं ।

११—निहकर्मी पतिब्रता कौ अंग

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत ।
जे हँसि बोलौं और सौं, तौ नील रँगाऊँ दंत ॥१॥

अनन्त गुणों के आश्रय प्रभु ! मेरा प्रेम तो केवल तेरे साथ है । यदि मैं किसी अन्य से हँसकर वार्तालाप करूँ, तो दाँतों को नील से रँगा दूँगी—मुख पर स्याही फेर लूँगी ।

नैंनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं ।
नां हौं देखूँ और कूं, नां तुझ देखन देउं ॥२॥

हे प्रभु ! नेत्रों के द्वारा तुम मेरे अन्दर प्रवेश करो, जिससे मैं नेत्रों को बन्द कर लूँ—फिर न तो मैं किसी दूसरे को देखूँ और न तुमको ही देखने दूँ ।

मेरा मुझ मैं कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझकौं सौंपतां, क्या लागै मेरा ॥३॥

मेरे अन्दर मेरा अपना कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सब तेरा ही है । अतः तेरी वस्तु को तुझे सौंपते हुए मेरा क्या लगता है ?

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥४॥

कबीर कहते हैं, जहाँ सिन्दूर की रेखा है, वहाँ काजल नहीं दिया जा सकता । जब नेत्रों में राम विराम कर रहे हैं, तो वहाँ अन्य कोई कैसे निवास कर सकता है ?

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास ।
समदहि तिणका करि गिणै, स्वांति बूंद की आस ॥५॥

कबीर कहते हैं, समुद्र की सीपी प्यास-प्यास रटती है, पर स्वाति नक्षत्र की बूँद की आशा लिए हुए समुद्र की अपार जलराशि को भी तिनके के बराबर समझती है ।

कबीर सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुख ।
जाहि सुख घर आपणैं, हम जाणौं अरु दुख ॥६॥

कबीर कहते हैं, मैं सुख (संयोग) की ओर जा रहा था, परन्तु दुख (विरह) सामने ही मार्ग में आ गया । सुख ! तू अपने घर चला जा, अब तो पहले हमें दुख से निपट लेना है ।

दोजख तौ हम आंगिया, यहु डर नाहीं मुझ ।
बिहित न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ ॥७॥

मैं नरक स्वीकार कर सकता हूँ, इसका मुझे डर नहीं है । पर हे प्यारे प्रभु ! तेरे बिना तो मुझे स्वर्ग भी नहीं चाहिये ।

जे वो एकै जांणियां, तौ जांण्यां सब जांण ।
जे ओं एक न जाणियां, तौ सबही जांण अजांण ॥८॥

जिसने उस एक प्रभु को जान लिया, तो उसने मानो समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया । परन्तु जिसने उस एक को नहीं जाना, तो उसका सब जाना हुआ अज्ञान है ।

कबीर एक न जांणियां, तौ बहु जांण्यां क्या होइ ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥९॥

कबीर कहते हैं, यदि एक प्रभु को नहीं जाना, तो अन्य अनेकों को जानने से क्या होता है? उस एक के प्राप्त होने से तो सब प्राप्त हो जाते हैं, पर सबको प्राप्त करने से वह एक प्राप्त नहीं हो सकता।

जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकांमी निज देव ॥१०॥

जब तक सकाम भक्ति की जाती है, तब तक सब सेवा निष्फल जाती है। कबीर कहते हैं, प्रभु तो निःकाम हैं, फिर वे सकाम भक्ति से कैसे प्राप्त हो सकते हैं?

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास ।
पांणीं मांहै घर करैं, ते भी मरैं पियास ॥११॥

एक राम की आशा करना ही उचित है। किसी अन्य की आशा करना तो निराशा का कारण है। जो (राम का आश्रय छोड़कर) पानी में ही अपना निवास स्थान बनाते हैं, वे भी प्यासे मरते हैं। (सुख के समस्त साधनों के होते हुए भी मानव प्रभु से पृथक रहकर दुख का ही अनुभव करता है।)

जो मन लागै एक सूं, तो निरबाल्या जाइ ।
तूरा दुह मुखि वाजणां, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

यदि एक से मन लगे तो निर्वाह हो सकता है। तुरही दो मुखों में बजने के कारण, उचित ही मार खाती है।

कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुत जु मीत ।
जिन दिल बँधी एक सूं, ते सुख सोवैं नचींत ॥१३॥

कबीर कहते हैं, इस कलियुग में आकर अनेक मित्र बनाये (फिर भी सुख प्राप्त नहीं हुआ) परन्तु जिन्होंने एक प्रभु के साथ हार्दिक मैत्री की है, वे सुख-निद्रा में निश्चिन्त होकर सोते हैं।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउँ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचें तित जाउँ ॥१४

कबीर कहते हैं, मैं तो राम का कुत्ता हूँ और मेरा नाम मोती है। मेरे गले में राम की रस्सी पड़ी है। अतः वे जिधर खींचते हैं, उधर ही चल देता हूँ।

तो तो करै तौ बाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तौ जाउँ ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥१५॥

तू-तू करके राम बुलाते हैं, तो मैं उनके पास पहुँच जाता हूँ और यदि दुतकार देते हैं तो हट जाता हूँ। भगवान मुझे जिस प्रकार रखेंगे, मैं उसी प्रकार रहूँगा और जो दे देंगे उसी को खाकर अपना निर्वाह कर लूँगा।

मन परतीति न प्रेम रस, नां इस तन मैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग ॥१६॥

मन में न तो प्रभु-विश्वास है और न प्रेम का रस। न इस शरीर में शृंगार सज्जा का ही कोई ढंग है। फिर मालूम नहीं, मैं उस प्रिय के साथ कैसे रास-रंग रचाऊँ ?

उस संम्रथ का दास हूँ, कदे न होइ अकाज ।
पतिब्रता नांगी रहै तो, उस ही पुरिस कौं लाज ॥१७॥

मैं उस समर्थ प्रभु का सेवक हूँ। मेरी हानि कभी हो ही नहीं सकती। पतिव्रता स्त्री नंगी रहती है, तो उसके पति पुरुष को ही लज्जा लगेगी।

घरि परमेसुर पाहुणां, सुणौं सनेही दास ।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छांड़ै पास ॥१८॥

हे राम के स्नेही भक्तो ! तुम्हारे घर (अन्तस्तल) में परमेश्वर अतिथि के रूप में विराजमान हैं। उनका भक्ति रूपी षट्रस भोजनों द्वारा सत्कार करो, जिससे वे तुम्हारे सामीप्य का कभी परित्याग न करें।

१२—चितावणी कौ अंग

कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥१॥

कबीर कहते हैं, थोड़े दिनों के लिये अपनी नौबत बजालो, रास-रंग मना लो। फिर ये नगर, ग्राम और गलियाँ देखने को नहीं मिलेंगी।

जिनके नौबत बाजती, मैंगल बँधते बारि ।
एकै हरि के नांव विन, गए जन्म सब हारि ॥२॥

जिनके यहाँ उत्सव मनाये जाते थे, द्वार पर मदमत्त हाथी बँधते थे, वे भी भगवान की भक्ति के बिना सब जन्मों में पराजित ही रहे ।

ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि ।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोई राखै फेरि ॥३॥

जब अवसर हाथ लगा, तब ढोल, नगाड़ा, तुरही, सहनाई और भेरी बजाकर-रास-रंग खेलकर-अवसर को नष्ट कर दिया और संसार से चल दिये । क्या कोई ऐसा है जो अब तुम्हारे पास उस अवसर को लौटा सके ?

सातों सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग ।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैसण लागे काग ॥४॥

जिन घरों में सप्त स्वर गूँजते थे और उत्सव मनाये जाते थे, वे घर अब खाली पड़े हैं और उन पर कौए बैठने लगे हैं ।

कबीर थोड़ा जीवणां, माँड़े बहुत मँड़ाण ।
सब ही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान ॥५॥

कबीर कहते हैं, थोड़ा--सा जीवन है और उसके लिये मनुष्य अनेक प्रकार के प्रबन्ध करता है । पर चाहे राजा हो, चाहे निर्धन और चाहे बादशाह, सब खड़े ही खड़े (प्रबन्ध करते ही करते) नष्ट हो जाते हैं ।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूँ पड़े बिछोह ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ॥६॥

एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा, जब सबसे वियुक्त होना पड़ेगा । अतः हे राजाओ, हे छत्रपतियो ! तुम अभी से सावधान क्यों नहीं हो जाते ।

कबीर पाटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार ।
जम रांणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥७॥

कबीर कहते हैं, जिस नगर (शरीर) में कारवाँ (सार्थ-आत्मिक धन) पड़ा है, उसमें काम-क्रोधादि पाँच चोर हैं और ब्रह्मरंध्रपर्यन्त दश द्वार हैं । यमराज इस गढ़ को घेरेगा । अतः भगवान का स्मरण करलो ।

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस ।
केसू फूले चारि दिन, खंखर भये पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं, इस जीवन की आशा लिये हुए क्या गर्व करते हो ? वह टेसू के फूलों के समान है जो चार दिन फूल कर रह जाते हैं, अथवा पलाश के समान है जो सूख कर खंखर हो जाता है ।

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग ।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यों कांचली भुजंग ॥९॥

कबीर कहते हैं, सुन्दर शरीर देख कर क्या घमंड करते हो ? जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है, इसी प्रकार तुम भी इससे वियुक्त होकर फिर नहीं मिलोगे ।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास ।
कालिह परचौ भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास ॥१०॥

कबीर कहते हैं, उच्च भवनों को देखकर क्या गर्व करते हो ? कल या परसों से (और आप) पृथ्वी पर लेट जावेंगे, ध्वस्त हो जावेंगे और ऊपर से घास जम आवेगी ।

कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड ।
हैवर ऊपरि छत्र सिरि, तो भी देवा खड ॥११॥

कबीर कहते हैं, हाड़ चाम से लपेटे हुये हैं, इन्हें देखकर क्या गर्व करते हो ? जिनके बड़े-बड़े घोड़े थे, शिर के ऊपर छत्र शोभा देता था, वे भी अन्त में खड्ड (गोर) में दबा दिये गये ।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस ।
नां जांणौं कहां मारसी, कै घरि कै परदेस ॥१२॥

कबीर कहते हैं, क्या गर्व करते हो ? मृत्यु अपने हाथ में तुम्हारे केश पकड़े खड़ी है । मालूम नहीं, घर में या परदेश में (बाहर) कहाँ तुमको मार डालेगी ।

यह ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल ।
दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥१३॥

यह संसार ऐसा है जैसे शाल्मली का फूल। दश दिन (थोड़े दिनों) के व्यवहार के लिये, इसके झूठे रंग में भूल मत जाओ !

जांमण, मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि ।
जिनि पन्थूं तुझ चालणां, सोई पन्थ सँवारि ॥१४॥

जन्म और मरण का विचार करके, कुत्सित कर्मों को छोड़ दे। जिस मार्ग पर तुझे चलना है, उसी मार्ग का स्मरण कर।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत ।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तो चेत ॥१५॥

रखवाले के बिना, बाहर से चिड़ियों ने खेत खा लिया। आधापरधा अर्थात् कुछ खेत अब भी बच सकता है। यदि तू सावधान हो सकता है, तो हो जा।

हाड़ जलै ज्यूँ लकड़ी, केस जलै ज्यूं घास ।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ॥१६॥

हाड़ लकड़ी की तरह और केश घास की तरह जल रहे हैं। कबीर सारे शरीर को जलता हुआ देखकर उदासीन हो गया।

कबीर मंदिर ढहि पड्या, सैंट भई सै बार ।
कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ॥१७॥

कबीर कहते हैं, शरीर रूपी मन्दिर गिर गया। इसमें सौ बार सैंध लग चुकी है (इसे माया नष्ट कर चुकी है)। चुनाई करने वाले किसी राज [ब्रह्म] ने इसे चुन दिया था; परन्तु वह राज फिर दूसरी बार नहीं मिला। सैवार = सौबार

कबीर देवल ढहि पड्या, ईंट भई सैंवार ।
करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूँ ढहैं न दूजीवार ॥१८॥

कबीर कहते हैं, शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया, इसकी ईंट-ईंट (अंग अंग) शैवाल अर्थात् काई में परिवर्तित हो गई। उस चुनने वाले प्रभु से प्रेम कर, जिससे यह देवालय दूसरी बार नष्ट न हो। सैंवार = शैवाल, काई।

कबीर मंदिर लाष का, जडिया हीरैं लालि ।
दिवस चारि का पेषणाँ, बिनस जाइगा कालि ॥१९॥

कबीर कहते हैं, यह शरीर लाख का मन्दिर है, जिसमें हीरे और लाल जड़े हुये हैं। यह चार दिन का खिलौना है। कल ही नष्ट हो जायगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुडी ज बांधी एह ।
दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥२०॥

कबीर कहते हैं, धूलि इकट्ठी करके यह पुड़िया [शरीर] बाँध दी गई है। यह चार दिन का खिलौना है। अन्त में मिट्टी की मिट्टी रह जायगी।

कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं ।
ते नर बिनठे मूलि जिनि, धंधै मैं ध्याया नहीं ॥२१॥

कबीर कहते हैं, यदि कर्म करते रहोगे तो धुल जाओगे, कर्म किये बिना मनुष्य उज्ज्वल नहीं होता। परन्तु वे मनुष्य जड़ से नष्ट हो जाते हैं जो कर्म करते हुये प्रभु का ध्यान नहीं करते।

कबीर सुपनैं रैनि के, ऊघड़ि आये नैन ।
जीव पड्या बहु लूटि मैं, जागै तौ लैंण न दैंण ॥२२॥

कबीर कहते हैं, रात्रि में स्वप्न लेते हुये नेत्र खुल गये। स्वप्न में जीवात्मा लूट-मार देख रहा था। परन्तु जब जग गया, तो लेना-देना कुछ भी नहीं रहा।

कबीर सुपनैं रैनि कै, पारस जीय में छेक ।
जे सोऊँ तौ दोइ जणां, जे जागूँ तौ एक ॥२३॥

कबीर कहते हैं, रात्रि के स्वप्न में पारस रूप प्रभु और जीव में भिन्नता दिखाई दे रही थी। जब सो जाता हूँ, तभी ये दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, परन्तु जब जगता हूँ, तो दोनों एक हो जाते हैं।

कबीर इस संसार मैं, घणै मनिष मति हींण ।
राम नाम जांणैं नहीं, आए टापा दीन ॥२४॥

कबीर कहते हैं, इस संसार में अनेक मनुष्य बुद्धिहीन हैं। वे राम-नाम को तो जानते नहीं, पर तिलक लगाये हुये चले आते हैं।

कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ ।
इत के भये न उत के, चाले मूल गँवाइ ॥२५॥

हमने इस संसार में आकर क्या कर लिया और प्रभु के पास जाकर क्या बतावेंगे ? न हम इधर के रहे न उधर के। जिस मूलधन को साथ लाये थे, उसको भी गँवाकर जा रहे हैं।

आया अण आया भया, जे बहुरता सँसार।
पड्या भुलांवां गाफिलां, गये कुबुधी हार ॥२६॥

जो मनुष्य इस संसार में अनेक प्रकार से आसक्त हैं, उनका यहाँ आना न आने के बराबर है। वे गाफ़िल होकर भूल में पड़े हुये हैं और दुष्ट बुद्धि होने के कारण पराजित हो रहे हैं।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै वार ॥२७॥

कबीर कहते हैं, भगवान की भक्ति के बिना, इस संसार में जीना धिक्कार है। यह धुयें का महल है, जिसके नष्ट होने में देर नहीं लगती।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि।
ते विधना बादुर रचे, रहे अरध मुख झूलि ॥२८॥

जिन्होंने भगवान के साथ चोरी की और उसका गुण-गाना भुला दिया, उन्हीं को ब्रह्मा ने चमगादड़ बनाया है, जो नीचा मुँह किये (डालों में लटके) झूल रहे हैं। बादुर = गादुर = चमगादड़

माटी मलणि कुंभार की, घणीं सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात ॥२९॥

कुम्भकार जब मिट्टी को मलता है, तो वह मिट्टी अपने शिर पर पैर की अनेक चोटें सहन करती है। मानव ! तू इस समय भी होश में नहीं आता ? अबके दाँव को भी तूने भुला दिया।

इहि औसर चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह।
राम नाम जाण्या नहीं, अंति पड़ी मुख षेह ॥३०॥

मानव ! इस समय भी तू होश में नहीं आता। पशु के समान शरीर को पालता रहा। राम-नाम को नहीं समझा। तभी तो अन्त में मुख में धूल पड़ी।

राम नाम जाण्यौं, नहीं लागी मोंटी खोड़ि ।
काया हांडीं काठ की. ना ऊ चढ़ै बहोड़ि ॥३१॥

राम-नाम नहीं जाना । बड़ा भारी अपराध लगा । यह शरीर काठ की हांडी है । वह दूसरी बार नहीं चढ़ती ।

राम नाम जाण्या नहीं, बात विनंठी मूल ।
हरता इहां ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूल ॥३२॥

राम-नाम नहीं जाना । बात मूल से नष्ट हो गई । दूसरे को हरते हुये स्वयं ही यहाँ हार गया और लाभ के रूप में मुख में धूल पड़ गई ।

राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्या कटक कुटुम्ब ।
धन्धा ही में मरि गया, बाहर हुई न बम्ब ॥३३॥

राम-नाम नहीं जाना । परिवार के समूह का पालन करता रहा और इसी धन्धे में मर गया, पर अन्दर के विकार दूर न हुये । अहंकार नष्ट न हो सका ।

मनिषा जनम दुलभ है, देह न बारम्बार ।
तरवर थैं फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार ॥३४॥

मानव-जन्म पाना कठिन है । यह शरीर बार-बार नहीं मिलता । जो फल वृत्त से नीचे गिर पड़ता है, वह पुनः उसकी डाल पर नहीं लगता ।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज ।
बार-बार नहिं पाइये, मनिषा जन्म की मौज ॥३५॥

कबीर कहते हैं, भगवान का भजन कर । विषय-रस की अभिलाषा को छोड़ दे । मानव-जन्म का यह आनन्द बार-बार नहीं मिलेगा ।

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोविंद केगाइ ॥३६॥

कबीर कहते हैं, यह शरीर नष्ट होने वाला है, यदि हो सके तो इसे ठीक ठिकाने लगा दे । या तो साधु की सेवा में उस शरीर को लगा दे या भगवान के गुणों का गान कर ।

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ लेहु वहोड़ि ।
नांगे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि ॥३७॥

कबीर कहते हैं, यह शरीर नष्ट होने वाला है; हो सके तो इसे सँभाल लो। जिनके पास लाखों करोड़ों की संपत्ति थी, वे भी यहाँ से खाली हाथ ही गये हैं।

यहु तन काचा कुम्भ है, चोट चहूँ दिसि खाइ ।
एक राम के नाम बिन, जदि तदि परलौ जाइ ॥३८॥

यह शरीर कच्चे घड़े के समान है और चारों दिशाओं से आघात सह रहा है। भगवान की भक्ति के बिना, न जाने कब यह विनाश को प्राप्त हो जाय।

यहु तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै था साथि ।
ढबका लागा फूटिगया, कछू न आया हाथि ॥३९॥

यह शरीर कच्चा घड़ा है जिसे तू साथ लिये घूमता फिरता था। जरा-सी चोट लगते ही फूट गया। कुछ भी हाथ न लगा।

कांची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि ।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषधि साधि ॥४०॥

इस शरीर रूपी कंचुकी को कलंकित मत करो। व्याधियाँ प्रतिदिन इसे आक्रांत कर रही हैं। इसी औषधि का सेवन करके कबीर को राम में रुचि उत्पन्न हुई है।

कबीर अपने जीवतैं, ऐ दोइ बातें धोइ ।
लोभ वड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ॥४१॥

कबीर कहते हैं, अपने जी से इन दो बातों को धो डालो, दूर कर दो—एक तो लोभ और दूसरा अहंकार या बड़प्पन। इन दोनों के कारण अपने सुरक्षित मूलधन को नष्ट मत करो।

खंभा एक गयंद दोइ, क्यूं करि बाँधिसि बारि ।
मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥४२॥

द्वार पर एक खंभा है! उसमें दो हाथी कैसे बाँधे जा सकते हैं? इसी प्रकार या तो मान ही कर ले या प्रिय से प्रेम। मान करती है तो प्रिय प्राप्त नहीं होंगे और प्रिय को प्राप्त करना है तो मान को छोड़ना पड़ेगा।

दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि ।
पांइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ॥४३॥

सांसारिकता के कारण धर्म को खो दिया, फिर भी यह संसार साथ न दे सका। अरे बेहोश प्राणी ! अपने हाथ से ही तू ने अपने पैरों में कुल्हाड़ा मारा है ।

यहु तन तौ सब बन भया, करम भये कुहांड़ि ।
आप आप कूं काटि है, कहै कबीर विचारि ॥४४॥

यह शरीर तो सब जंगल के समान है और अपने कर्म ही कुल्हाड़ी के तुल्य हैं। इस प्रकार हम स्वयं अपने आपको काट रहे हैं, यह बात कबीर विचार पूर्वक कह रहे हैं।

कुल खोयां कुल ऊबरै, कुल राख्या कुल जाइ ।
राम निकुल कुल भेंटिलै, सब कुल रह्या समाइ ॥४५॥

कुल को खोने से ही कुल का उद्धार होता है। कुल की रक्षा करने से कुल नष्ट होता है। कुल-रहितों के भी कुल राम से भेंट कर ले, जिनमें समस्त कुल समाये हुये हैं।

दुनियाँ के धोखै मुवा, चलै जु कुल की काँणि ।
तबकुलकिसकालाजसी, जब ले धर्या मसांणि ॥४६॥

जो कुल की लज्जा का ध्यान करके चलता है, वह संसार के धोखे में पड़ कर नष्ट हो जाता है। जब श्मशान भूमि में लेजाकर रख दिया जाता है, तब किसका कुल लज्जित होता है ?

दुनियां भाँड़ा दुख का, भरी मुहांमुंह भूष ।
अदया अलह रांम की, कुरलै ऊँणी कूष ॥४७॥

यह संसार दुख का भाजन है तथा तृष्णा से लबालब भरा हुआ है। भगवान की कृपा के बिना प्राणी न्यूनताओं और अभावों के कोष का अनुभव करके कराहता और चिल्लाता है। ऊंणी=ऊना, न्यून, खाली। कूष=कोष अथवा कोख। कोख खाली होने से, अभाव का अनुभव होने से ।

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तू जिनि बँधै कबीर ।
ह्वै सी आटा लूंण ज्यूं, सोना सँवां सरीर ॥४८॥

कबीर कहते हैं, जिस माया रूपी रस्सी में संसार बँधा हुआ है, तू उसमें अपने को मत बाँध; अन्यथा स्वर्ण के समान कान्तिमान शरीर आटे की पिंडी के समान बन जायगा जो बारबार गूंधी जाती है ।

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझै काल ।
कबीर प्याले प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥४९॥

कहते सुनते ही संसार (जीवन) नष्ट हो जाता है । विषयों में मग्न मनुष्य को मृत्यु दिखलाई नहीं देती । पर कबीर प्रेम के रसीले प्यालों को भर-भर कर पी रहा है ।

कबीर हद के जीव सूं, हितकरि मुखां न बोलि ।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अन्तर खोलि ॥५०॥

कबीर कहते हैं, जो सीमा (माया) के अन्तर्गत रहने वाले हैं, उनसे प्रेम-सहित वार्तालाप मत करो । परन्तु जो प्राणी असीम (ब्रह्म) से प्रेम करते हैं, उनसे हृदय खोलकर भेंट करो ।

कबीर केवल राम कीं, तूं जिनि छांड़ै ओट ।
घण अहरणि बिच लोह ज्यूं, घणीं सहै सिरि चोट ॥५१॥

कबीर कहते हैं, तू केवल राम के आश्रय को मत छोड़ । अन्यथा जैसे घन और निहाई के बीच में पड़कर लोहे पर चोटें पड़ती हैं, उसी प्रकार तू भी अपने शिर पर अनेक चोटें सहन करेगा ।

कबीर केवल राम कहि, सुध गरीबी झालि ।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालिह ॥५२॥

कबीर कहते हैं, केवल राम नाम का जाप कर और सरलता से निर्धनता का जीवन स्वीकार करले । यदि कुत्सित बड़प्पन में पड़कर डूब जायगा, तो वह भारी बोझ के समान मालूम पड़ेगा ।

काया मंजन क्या करैं, कपड़ धोइम धोइ ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नींदड़ी न सोइ ॥५३॥

शरीर की शुद्धि क्या करता है ? कपड़ों को क्यों धो रहा है ? इन्हें उज्ज्वल बना कर भी तू संसार से मुक्त नहीं हो सकेगा । अतः सुख की नींद मत सो ।

ऊजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाहिं ।
एकै हरि का नांव बिन, बांधे जमपुरि जाहिं ।।५४।।

जो प्राणी उज्ज्वल कपड़ा पहनकर पान सुपारी खाते हैं, वे भगवद्भक्ति के बिना नरक के बंधनों में पड़ते हैं ।

तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ।।५५।।

तेरा साथी कोई भी नहीं है । सब मनुष्य स्वार्थ में बँधे हुए हैं । जब तक इस बात की प्रतीति मनमें उत्पन्न न हो, तब तक आत्मा के प्रति विश्वास जाग्रत नहीं होता ।

मांइ बिड़ाणी, बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ांह ।
दरिया केरी नाव ज्यूं, संजोगे मिलियांह ।।५६।।

माँ बिरानी है, पिता भी पराया है, हम भी बीच में बिराने ही हैं । नदी-नाव के संयोग की तरह हम सब यहाँ संयोग से ही मिल गये हैं ।

इत प्रघर, उत घर, वणजण आये हाट ।
करम किरांणां बेचि करि, उठि ज लागे बाट ।।५७।।

इधर पराया घर है, उधर अपना घर है । यहाँ तो हम बाजार में वाणिज्य करने आये हैं । कर्मरूपी किराना वेचकर उठ बैठते हैं और फिर अपने मार्ग पर लग जाते हैं ।

नांन्हां काती चित दै, महंगे मोलि बिकाइ ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ ।।५८।।

चित्त लगाकर सूक्ष्म कर्मरूपी सूत कातो । तब वह महँगे दामों में बिकेगा । राजा राम ही उसके ग्राहक होंगे । और कोई तो उसके निकट भी नहीं आ सकता ।

डागल ऊपरि दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ ।
पुन्नैं पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौरि न खोइ ।।५९।।

मानव-जीवन का पथ ऊबड़-खाबड़ भूमि पर दौड़ने के समान है । अतः सुख की नींद मत सोओ । बड़े पुण्यों के फल स्वरूप यह शरीर मिला है । इसे ओछे स्थान पर नष्ट मत करो ।

मैं मैं बडी बलाइ है, सकै तौ निकसी भागि ।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥६०॥

अहंकार बहुत बुरी वस्तु है । यदि हो सके तो इससे निकलकर भाग जाओ । हे सखी, रुई में लिपटी इस अग्नि (अहंकार) को मैं कब तक अपने पास रखूँ ?

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी सूल बिनास ।
मेरी पग का पैंषणा, मेरी गल की पास ॥६१॥

ममता और अहंकार में मत फँसो । ये विनाश के मूल हैं । ममता पैरों की बेड़ी और गले को फाँसी है ।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार ।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार ॥६२॥

कबीर कहते हैं, नाव जर्जर है और खेनेवाला मूर्ख है । जिनके शिर पर (विषय वासनाओं का) बोझ है, वे डूब जाते हैं, पर जो हलके हैं, वे पार हो जाते हैं ।

१३—मन कौ अंग

मन कै मतै न चालिये, छांडि जीव की बांणि ।
ताकू केरे सूत ज्यों, उलटि अपूठा आंणि ॥१॥

आत्मा के स्वभाव को छोड़कर, मन की प्रवृत्ति के अनूकूल नहीं चलना चाहिये । मन की इस प्रवृत्ति-धारा को संसार से उलटकर आत्मा की ओर वैसे ही लगा देना चाहिये जैसे तकुए पर काता हुआ सूत उलट कर अड़िया पर चढ़ाया जाता है । बांणि = बान = स्वभाव ।

चिंता चित्ति निवारिए, फिरि बूझिए न कोइ ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ॥२॥

अपने मन से चिंताओं को दूर कर देना चाहिये। फिर किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियों का जो प्रसार विषयों की ओर हो रहा है, उसे समाप्त कर देना चाहिये। तभी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होगी।

आसा का ईंधण करूं, मनसां करूं बिभूति।
जोगी फेरी फिल करौं, यौं बिन नांवैं सूति ॥३॥

आशाओं को ईंधन बनाकर जला डालूँ। इच्छाओं को भस्म कर दूँ। फिर योगी के समान विचरण करूँ। इस प्रकार नाम-विहीन होकर सो जाऊँ, सांसारिकता से पृथक हो जाऊँ।

विभूति = भस्म।

कबीर सेरी सांकडी, चंचल मनवां चोर।
गुण गावै लौ लीन होइ, कछू एक मन में और ॥४॥

कबीर कहते हैं, गली संकीर्ण और मन रूपी चोर चंचल है। लवलीन होकर बाहर से प्रभु के गुण तो गाता है, पर अन्दर कछु और ही भाव भरा है। संकरी गली में मन रूपी चोर धोखा देकर न जाने कब भाग जाय। अतः इसे पकड़ कर रखो।

कबीर मारूँ मन कूँ, टूक-टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताय ॥५॥

कबीर कहते हैं, मन को मैं ऐसा मारूँ कि इसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ। जिस मन ने विष की क्यारी बोई है, वह उसे काटने में क्यों पछताता है? (भोग रोग को जन्म देते हैं।)

इस मन कौं बिसमिल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपणां, तौ पर सिरि ज अंगीठ ॥६॥

इस मन को कुचल दूँ, जो कुछ अब तक देखा है उसे भुला दूँ। यदि अपना (अहंकार) रखता हूँ, तब तो मैं पराये शिर को स्वीकार कर लेता हूँ, अहंकार के वशीभूत हो जाता हूँ।

मन जाणैं सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै ॥७॥

मन सब बातों को जानता है, परन्तु जानता हुआ भी अवगुणों में फँस जाता है। जो हाथ में दीपक पकड़े हुए भी कुए में गिर पड़ता है, उसकी कुशल कैसी ?

हिरदा भीतर आरसी, मुख देषणां न जाइ ।
मुख तौ तौ परि देखिये, जे मन की दुविधा जाइ ॥८॥

हृदय के अन्दर ही दर्पण है, परन्तु (वासनाओं की मलिनता के कारण) मुख या आत्मा का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। यह स्वरूप तो तभी दिखलाई पड़ सकता है, जब मन का संशय नष्ट हो जावे।

मन दीयां मन पाइये, मन बिन मन नहीं होइ ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥९॥

मन देने से ही मन प्राप्त होता है, मन के बिना मन नहीं मिलता । मन को उस अंडे के समान उन्मनी (ऊर्ध्व) अवस्था में ले जाओ, जो अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए आकाश की अग्नि की ओर देखा करता है।

अग्नि पक्षी = फ़ारसी का आतिशजन, मिस्र और ग्रीक का फोनिक्स कूकनूस। इस पक्षी का अंडा जो आकाश में उत्पन्न होता है, पृथ्वी पर आने से पहले ही फूट जाता है और बच्चा उड़कर आकाश में अपनी मां से मिल जाता है।

मन गोरख, मन गोविंदौ, मन ही औघड़ होइ ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥१०॥

यदि मन को यत्नपूर्वक अपने वश में कर लो, तो स्वयं विधाता बन जाओगे (जैसा चाहोगे वैसे ही बन जाओगे)। मन ही गोरख, मन ही गोविन्द और मन ही अवधूत स्वरूप हो जाता है।

एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रङ्ग न जाइ ॥११॥

मैंने अपना एक मित्र बनाया है, जिसके गले में लाल कपड़ा शोभा दे रहा है। सारे संसार के धोबी भी आकर धोवें, तो भी उसका रंग छूटने का नहीं है ।

पांणीं ही तैं पातला, धुंवां ही तैं झींण ।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीर कीन्ह ॥१२॥

जो पानी से भी पतला, धुआँ से भी झिरझिरा और पवन से भी अधिक वेगवाला है, उसको कबीर ने अपना मित्र बनाया है।

कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां साईं मिलौं, पीछे पड़ि है राति॥१३॥

कबीर कहते हैं, घोड़े पर जीन कस लिया है और चाबुक हाथ में ले लिया है। दिवस के समाप्त होते-होते मैं प्रभु से मिल जाना चाहता हूँ, अन्यथा इसके पश्चात् रात्रि आ जायगी।

मनवां तौ अधर बस्या, बहुतक झीणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूं न न्यारा सोइ॥१४॥

मन अत्यन्त सूक्ष्म होकर अधर में निवास कर रहा है। अधर (आकाश-सहस्रार चक्र) में विराजमान ब्रह्म को देखते ही इसे सुख प्राप्त हो गया। वह ब्रह्म तो इस मन से कभी पृथक होता ही नहीं। (यह मन ही है जो विकारग्रस्त होकर अपने को अलग कर लेता है।)

मन न मारया मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, इन्द्री अजहूँ उधारि॥१५॥

न तो मन को अच्छी तरह मार सके (वश में कर सके) और न काम क्रोधादि पाँच शत्रुओं पर ही प्रहार कर सके। शील, सत्य और श्रद्धा भी नहीं है। अब भी इन्द्रियों का उद्धार कर लो, उन्हें संयम में रखो।

कबीर मन विकरै पड़्या, गया स्वादि कै साथि।
गलका खाया बरजतां, अब क्यूं आवै हाथि॥१६॥

कबीर कहते हैं, मन विकारों में पड़ा है और विषय-वासना के स्वाद में निरत है। इसने मना करने पर भी मीठा खा लिया, अब यह वश में कैसे हो सकता है?

कबीर मन गाफिल भया, सुमिरण लागै नाहिं।
घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगह माहिं॥१७॥

कबीर कहते हैं, मन ऐसा भुलावे में पड़ा है कि प्रभु के स्मरण में लगता ही नहीं। इसी कारण इसे यमराज के दरबार में अपार कष्ट सहन करना पड़ेगा।

कोटि कर्म पल में करै, यहु मन विषिया स्वादि ।
सतगुरु सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ॥१८॥

यह मन विषय-वासना के स्वाद में पड़ा हुआ पल भर में (थोड़े से जीवन में) अनेक दुष्कर्म किया करता है। सद्गुरु के बताये हुये शब्दों (शिक्षा) को नहीं मानता। व्यर्थ में ही इसने सारा जीवन व्यतीत कर दिया।

मैमंता मन मारि दे, घट ही माँहैं घेरि ।
जब हीं चलै पीठि दै, अंकुश दै दै फेरि ॥१९॥

अन्तस्तल में ही चारों ओर से घेर कर इस मदमत्त मन को मार डालो। जभी पीठ देकर चले, आत्मा से विमुख हो, तभी इसे (भक्ति के अंकुश द्वारा आत्मा की ओर उन्मुख करो)।

मैमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि ॥२०॥

मदमत्त मन को मार डालो, इसे अत्यन्त सूक्ष्म कर-करके पीसो। तभी सुन्दरी आत्मा सुख प्राप्त करेगी और उसके शिर पर ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश होगा।

कागद केरी नांव री, पांणीं केरी गंग ।
कहै कबीर कैसे तिरूं, पंच कुसंगी संग ॥२१॥

कबीर कहते हैं, पानी की गंगा (संसार-सरिता) बह रही है। कागज की नाव है। काम-क्रोधादि पाँच कुसंगी साथ में हैं—फिर इस नदी को मैं कैसे पार करूं ?

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालि ।
डूंगरि बूठा मेंह ज्यूं, गया निवांणां चालि ॥२२॥

कबीर कहते हैं, जो मन कल था, वह आज कहाँ चला गया ? जैसे ऊँचे टीले पर बरसा हुआ पानी नीचे स्थान की ओर चला जाता है, वैसे ही यह मन उठकर फिर गिर गया।

मृतक कूं धीजौ नहीं, मेरा मन बीहै ।
बाजै बांव विकार की, भी मूवा जीवै ॥२३॥

संसार की ओर से मरे हुए मन का विश्वास मत करो। मुझे भय है कि यह मर कर भी फिर कहीं जीवित न हो उठे और इसमें विचारों की दुन्दुभि बजने लगे। धीजों = विश्वास करना। बीहै = डरता है। बांब = बम्ब, दुंदुभि। अथवा बाव = वायु, हवा। विकारों की वायु के लग जाने से यह मरा हुआ मन फिर जीवित हो उठे।

काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि।
कोई एक आषिर मन वस्या, दह मैं पडी वहोड़ि ॥२४॥

मन रूपी मछली को काट–कूटकर या उसकी चंचल प्रवृत्ति को नष्ट करके, छींके पर संभाल कर रखा, शून्य में स्थिर किया। परन्तु किसी संस्कार या वासनारूप अक्षर के मन में रह जाने के कारण इसे फिर अथाह संसार-सागर में पड़ना पड़ा।

कबीर मन पंषी भया, बहु तक चढ़्या अकास।
उहां ही तैं गिरि पड्या, मन माया के पास ॥२५॥

कबीर कहते हैं, मन पक्षी बनकर, चक्रों को भेदता हुआ, आकाश (सहस्रार चक्र) तक बहुत कुछ चढ़ गया था, परन्तु यह मन फिर वहाँ से माया के पास गिर पड़ा।

भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तौ मैंगल ह्वै रह्यौ, क्यूं करि सकै समाइ ॥२६॥

भक्ति का द्वार संकीर्ण है। यह राई के दसवें भाग के समान है; परन्तु मन मदमत्त हाथी बना हुआ है। यह इसमें कैसे समा सकता है?

करता था तौ क्यूं रह्या, जब करि क्यूं पछिताय।
बोवै पेड़ बबूल का, अंब कहां तैं खाइ ॥२७॥

यदि तू अपने को कर्ता समझता था, तो चुप क्यों बैठ रहा? और अब कर्म करके पश्चात्ताप क्यों करता है। पेड़ तो बबूल का लगाया है, फिर आम खाने के लिये कहाँ से मिलें?

काया देवल, मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ ॥२८॥

शरीर देवालय है। मनरूपी ध्वजा विषय वासनाओं की लहरों में फहरा रही है। जब यह देवालय मन के चलायमान होने से विचलित हो जाता है, तो सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

मनहिं मनोरथ छांडि दै, तेरा किया न होइ।
पाणीं मैं घीव नीकसै, तौ रूखा खाइ न कोइ ॥२९॥

मन की इच्छा छोड़ दो। उन्हें तुम अपने बूते पर पूर्ण नहीं कर सकते। यदि जल से घी निकल आवे, तो रूखी रोटी कोई भी नहीं खायगा ?

काया कसूं कमांण ज्यूं, पंच तत्त करि बांण।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण ॥३०॥

धनुष की भाँति शरीर को खींचकर पंच तत्वों के बाणों द्वारा मन रूपी मृग को मार सका, तो अच्छा है; नहीं तो सब साधना व्यर्थ है।

१४—सूषिम मारग कौ अंग

कौण देश कहां आइया, कहु क्यूं जाणां जाइ।
उहु मार्ग पावें नहीं, भूलि पड़े इस मांहिं ॥१॥

हम किस देश के थे और कहाँ आ गये ? बताओ तो, यह कैसे जाना जा सकता है। वह मार्ग जो अपने देश को जाता है, प्राप्त नहीं होता। उलटे भूलकर इधर के मार्ग पर लग गये।

उतीथैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥२॥

इधर से सब कर्मों का बोझ लाद-लादकर चले जाते हैं, परन्तु उधर से कोई भी नहीं आता, जिसके पास जाकर मैं कुछ सन्देश पूछ सकूँ।

सबकूं बूझत मैं फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थैं होइ ॥३॥

मैं सबसे पूछता फिरता हूँ, परन्तु कोई भी रहने की स्थिति की बात नहीं कहता । राम से जब प्रेम ही नहीं जोड़ा तो स्थिति कैसे हो सकती है ।

चलौ चलौ सब कोइ कहै, मोहिं अँदेसा और ।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जाहिंगे किस ठौर ॥४॥

सब कहते हैं, प्रभु की ओर चलो । परन्तु मुझे यह आशंका है कि जब से प्रभु से इनका परिचय ही नहीं है, तो यह किस स्थान पर जावेंगे ?

जाइबे कौं जागा नहीं, रहिबे कौं नहीं ठौर ।
कहै कबीरा सन्त हौं, अविगत की गति और ॥५॥

न तो जाने के लिए कहीं जगह ही है और न रहने के लिये कहीं स्थान ही है । कबीर कहते हैं, हे सन्तो ! अविगति की गति कुछ और ही है ।

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाइ ।
गये ते बहुड़े नहीं, कुशल कहै को आइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, मार्ग कठिन है । इस पर कोई नहीं जा सकता । जो इस मार्ग से गये भी, वे लौटकर नहीं आये । फिर वहाँ की कुशल-वार्ता कौन आकर सुनावे ।

जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल ।
पांव न टिकै पपीलिका, लोगनि लादे बैल ॥७॥

भक्त कबीर का घर शिखर पर है जहाँ का मार्ग पथरीला और रपटीला है । चींटी के पैर भी जहाँ टिक नहीं सकते वहाँ मनुष्य अपने बैलों पर बोझ लादकर जाना चाहते हैं ।

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ ।
मन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहूँचे जाइ ॥८॥

जहाँ चींटी चढ़ नहीं सकती ; राई ठहर नहीं सकती; मन और पवन पहुँच नहीं सकते, वहाँ हम जा पहुँचे हैं ।

कबीर मारग अगम है, सब मुनि जन बैठे थाकि ।
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि ॥९॥

कबीर कहते हैं, मार्ग दुर्गम है, समस्त मुनीश्वर उस पर चलते हुये थक कर बैठ गये हैं; परन्तु सद्गुरु के साक्षात्कार के सहारे मैं वहाँ पहुँच गया ।

सुर नर थाके मुनि जनां, जहाँ न कोई जाइ ।
मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ ॥१०॥

सुर, नर, मुनिजन सब थक गये । जहाँ पर कोई भी नहीं जाता; कबीर के बड़े भाग्य थे जो वहाँ घर बनाकर रहने लगे ।

१५—सूषिम जनम कौ अंग

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जांणैं जाल ।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल ॥१॥

कबीर कहते हैं, अनेक जन्मों के सूक्ष्म स्मृतिरूप संस्कारों के जाल को जीव नहीं जानता । यह तो तभी हो सकता है जब आत्मा कालगत अदृष्टि को दूर कर दे ।

प्रांण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ ।
जीव छतां जांमैं मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥२॥

जब प्राण शरीर को छोड़कर निकल जाता है तब सभी व्यक्ति उसको मरा हुआ कहते हैं । परन्तु जीवात्मा जिस शरीर में रहते हुये भी मर जाता है—उसकी सूक्ष्म गति कोई नहीं देख पाता ।

१६—माया कौ अंग

जग हटवाड़ा, स्वाद ठग, माया बेसां लाइ ।
राम चरन नीकां गही. जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

संसार बाजार है। विषय-वासनाओं का स्वाद ही ठग है और माया वेश्या रूप है। यहाँ आकर राम के चरणों को अच्छी तरह पकड़ लो जिससे इस जीवन में धोखा न खा सको, ठगे न जा सको।

कबीर माया पापणीं, फंध लै बैठी हाटि ।
सब जग तौ फंधै पड्या, गया कबीरा काटि ॥२॥

कबीर कहते हैं, पापिनी माया संसाररूपी बाजार में फन्दे लेकर बैठी है। सारा संसार इन फन्दों में फँस गया, पर मैंने इन फन्दों को काट डाला।

कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग ।
पूरी किनहुँ न भोगई, इनबा इहै विजोग ॥३॥

कबीर कहते हैं, पापिनी माया ने सब मनुष्यों को लोभ में फाँस रखा है। इसको संपूर्ण रूप से कोई भी नहीं भोग सका, यही इनका वियोग है।

कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम ।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥४॥

कबीर कहते हैं, पापिनी माया ईश्वर से विश्वासघात करती है और कराती है। यह मनुष्य के मुख में दुर्बुद्धि की शृंखला डालकर उससे राम नहीं कहने देती।

जाणौं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस ।
हरि बिचि घालै अन्तरा, माया बड़ी बिसास ॥५॥

मेरे मन में बड़ी अभिलाषा है कि यदि भगवान को जान लूँ, तो उसका भजन करूँ। माया बड़ी विश्वासघातिनी है। यह हरि और भक्ति के बीच अन्तर डाल देती है।

कबीर माया मोहिनी, मोहे जांण सुजांण ।
भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण ॥६॥

कबीर कहते हैं, मोहिनी माया ज्ञानी एवं चतुर सबको मोहित कर लेती है । यह ऐसे बाण भर-भर कर मारती है कि मनुष्य भागने पर भी इससे छूट नहीं पाता ।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड ।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौं करती भांड ॥७॥

कबीर कहते हैं, मीठी शक्कर की तरह माया मोहित करने वाली है । मुझ पर सद्गुरु की कृपा हो गई, नहीं तो मुझे यह नष्ट ही कर देती ।

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घांणि ।
कोई एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की कांणि ॥८॥

कबीर कहते हैं, मोहिनी माया ने सारे संसार को तेली के कोल्हू की भाँति घानी बनाकर पीस डाला है । पन्तु एकाध भक्त बच गए हैं, जिन्होंने कुल की लज्जा को छोड़ दिया है ।

कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि ।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि ॥९॥

कबीर कहते हैं, यह मोहक माया माँगने पर हाथ नहीं लगती । जब इसको मिथ्या मानकर मन से उतार देते हैं तब यह साथ-साथ लगी फिरती है ।

माया दासी संत की, ऊंभी देइ असीस ।
विलसी अरु लांतौं छिड़ी, सुमिरि सुमिरि जगदीस ॥१०॥

माया सन्त की दासी है और खड़े ही खड़े उसे आशीर्वाद देती है । परन्तु सन्त भगवान का स्मरण करके इसे भोगते हैं और पैरों से मारते हैं ।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर ।
आसा त्रिष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर ॥११॥

न माया मरती है न मन । शरीर न जाने, कितनी बार मर चुका । आशा तृष्णा कभी नहीं मरती—कबीर ऐसा कई बार कह चुके है ।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ ।
सोइ मूवै धन संचते, सो उबरे जे खाइ ॥१२॥

संसार मर जाता है, परन्तु आशा जीवित रहती है। मनुष्य अनेक बार जन्म लेकर मरता रहता है। वह जो धन का संचय करते हैं, मर जाते हैं, परन्तु जो इसे खा डालते हैं वे बच जाते हैं।

कबीर सो धन संचिए, जो आगे कूँ होइ ।
सीस चढ़ाये पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥१३॥

कबीर कहते हैं, उस धन को इकट्ठा करो जो भविष्य में काम दे। शिर पर धन की गठरी बाँधकर ले जाते तो किसी को नहीं देखा गया।

त्रीया, त्रिष्णां पापणीं, तासूं प्रीति न जोड़ि ।
पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

स्त्री पापिनी तृष्णा है। इससे प्रेम मत कर। यह थोड़ा-सा प्रारम्भिक सहारा पाकर ही पीछे पड़ जाती है और बड़ा भारी पाप लगता है।

त्रिष्णां सींची न बुझे, दिन दिन बढ़ती जाइ ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥१५॥

तृष्णा सींचने (भोगने) से कम नहीं होती, प्रत्युत दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। यह तो जवासे के पेड़ के समान ज्ञान के घने मेघ से ही मुरझाती है।

कबीर जग की को कहै, भौजलि बूड़ै दास ।
पारब्रह्म पति छांड़ि करि, करै मन की आस ॥१६॥

कबीर कहते हैं, संसारी मनुष्यों की तो बात क्या ? इस संसार रूपी सरिता के जल में भगवान के भक्त तक डूब जाते हैं, जब वे परमब्रह्म जैसे स्वामी को छोड़कर, सम्मान पाने की अभिलाषा करने लगते हैं।

माया तजी तौ का भया, मान तजी न जाइ ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबन कूं खाइ ॥१७॥

माया छोड़ भी दी तो क्या हो गया, सम्मान की भावना तो नहीं छूट सकी। इस सम्मान की भावना अथवा अहंकार ने बड़े-बड़े मुनीश्वरों तक को निगल लिया है—यह मान सबको खा जाता है।

रांमहिं थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगैं दीन ।
जीवां कौं राजा कहैं, माया के आधीन ॥१८॥

भगवान को थोड़ा समझकर, संसार को प्रमुखता दी। माया के अधीन व्यक्ति जीव को ही राजा (ईश्वर) कहने लगे, यद्यपि वह जीव माया के अधीन है, अर्थात् जीव ने प्रजा और माया को अपना राजा मान रखा है।

रज वीरज की कली, तापरि साज्या रूप ।
रांम नांम बिन बूड़ि हैं, कनक कांमणीं कूप ॥१९॥

यह शरीर रज और वीर्य की कली के समान है। उसके ऊपर तुमने सुन्दर रूप सजा रक्खा है। परन्तु राम-नाम के बिना स्वर्ण और स्त्री के कूप में सब डूब जायगा।

माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप ।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका तनि ताप ॥२०॥

सत, रज और तम तीन गुणों से युक्त माया एक वृक्ष के समान है जिसकी शाखायें दुख और संताप के रूप में हैं। इस वृक्ष के आश्रय में शीतलता तो स्वप्न में भी नहीं है। इसका फल रसहीन और शरीर को कष्ट देने वाला है।

कबीर माया डाकणीं, सब किस ही कौं खाइ ।
दांत उपाणौं पापड़ीं, जे संतौं नेड़ी जाइ ॥२१॥

कबीर कहते हैं, माया डाँकिनी है। यह सब किसी को खा जाती है। पर पापिनी! यदि तू सन्तों के निकट गई तो तेरे दाँत उखाड़ लूँगा।

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि ।
जल ही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि ॥२२॥

कमलिनी (आत्मा) ने दावाग्नि से बचने के लिये जल के आगार समुद्र में (सुरक्षित स्थान में) अपना घर बनाया, परन्तु वहाँ भी दावाग्नि अधिकता से प्रज्वलित हो उठी और वह जल के अन्दर जलकर भस्म हो गई। यह पूर्व जन्म के किसी लेख (कर्म-विपाक) का ही परिणाम था।

कबीर गुण की बादली, ती तरवानीं छांहि ।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर मांहि ॥२३॥

कबीर कहते हैं, सत, रज और तम तीन गुणों की बदली छाई हुई है जिससे बचने के लिये मनुष्य स्त्री रूपी वृक्ष की छाया में जाता है। परन्तु जो छाया के बाहर रहते हैं वे तो भीगने से बच जाते हैं और जो इसके अन्दर रहते हैं वे भीग जाते हैं।

कबीर माया मोह की, भई अंधारी लोइ।
जे सूते ते मुसि लिये, रहे वसत कूं रोइ ॥२४॥

कबीर कहते हैं, हे मनुष्यो! माया और मोह का अन्धकार फैला हुआ है। इससे जो सो जाते हैं वे ठग लिये जाते हैं और अपनी वस्तुओं के लिये रोते रहते हैं। लोइ = लोग

संकल हो तैं सब लहैं, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटैं बापुड़े, बांधे सिरजनहार ॥२५॥

इस संसार में माया सबको श्रृंखला अर्थात् कर्म-बन्धन द्वारा ही बांध रही है। परन्तु जिनको विधाता (भाग्य) ने ही इस श्रृंखला में बाँध रखा है, वे बेचारे इससे (भगवान की कृपा के बिना) कैसे छूट सकते हैं?

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई ज वाचा बंध ॥२६॥

आशा उस अमर बेलि के समान है जो बाड़ी में किसी वृक्ष के ऊपर चढ़ जाती है और विविध प्रकार के फन्दों में उलझ जाती है। कबीर कहते हैं, यह टूट भले ही जावे, पर छूटती नहीं है, क्योंकि वचनबद्ध जो हो चुकी है।

सब आसण आसा तणां, निवर्तिकै को नाहिं।
निवरति कै निवहै नहीं, परवर्ति परपंच माहिं ॥२७॥

सब का आसन आशा के नीचे है अर्थात् सभी व्यक्ति लालसाओं में उलझे हुए हैं। निवृत्ति पथ पर कोई भी नहीं चल रहा। जो निवृत्ति मार्ग पर चलते भी हैं, वे उसका निर्वाह नहीं कर पाते, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति प्रपंचरूप संसार की ओर रहती है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह ।
जिहि घरि जिता बँधावणां, तिहिं घरि तिता अँदोह ॥२८॥

कबीर कहते हैं इस संसार से माया-मोह करना मिथ्या है । जिस घर में जितना बँधान है, भोग्य पदार्थ है, उस घर में उतना ही अंधकार है ।

माया हमसौं यों कह्या, तू मति दै रे पूठि ।
और हमारा हम वलू, गया कबीरा रूठि ॥२९॥

कबीर कहते हैं, जब माया ने मुझसे कहा कि तू मुझे पीठ मत दे, मुझसे विमुख न हो, तभी मेरा आत्मबल मुझसे रूठ गया, विमुख हो गया ।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़्या कलंक ।
और पखेरू पी गये, हंस न बोवै चंच ॥३०॥

बगुली (माया) ने जल को गंदा कर दिया, तभी से संसाररूपी सागर कलंकित हो गया है । इसमें अन्य पक्षी (साधारण मानव) तो पानी पी जाते हैं, पर हंस (मुमुक्षु) अपनी चोंच भी नहीं डालता ।

कबीर माया जिनि मिलौ, सौ बरियां दे बांह ।
नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्यांह ॥३१॥

कबीर कहते हैं, माया से मत मिलो, चाहे वह सौ बार भी तुम्हारे गले में हाथ क्यों न डाले । यह नारद जैसे मुनीश्वरों तक को निगल चुकी है, फिर उसका विश्वास क्या ।

माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि ।
कहु, धौं, किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥३२॥

सारा संसार स्वर्ण और स्त्री के लिये माया की ज्वाला में जलता रहा है । बताओ तो, रुई में लपेटी हुई अग्नि को किस प्रकार रखा जा सकता है ? वह तो जलेगी ही, इसी प्रकार माया स्वयं जलती है और दूसरों को जलाती है ।

१७—चांणक कौ अंग

जीव विलंब्या जीव सौं, अलख न लषिया जाइ ।
गोविंद मिलै न झल वुझै, रही वुझाइ बुझाइ ॥१॥

जीव अपने जीवन को सुरक्षित रखने के प्रबन्ध में ही लगा हुआ है । वह अलख-ब्रह्म को नहीं देख पाता । इस प्रकार वह अपनी ज्वाला को बुझाने का प्रयत्न करता है, पर न तो यह ज्वाला ही शान्त होती है और न उसे भगवान ही प्राप्त होते हैं ।

इहीं उदर कै कारणैं, जग जांच्यौ निस जाम ।
स्वामीपणौं जु सिरि चढ़्यौ, सर्या न एकौ काम ॥२॥

इस उदरदरी को भरने के लिए मैं दिन-रात संसार से याचना करता रहा । पर स्वामी बनना शिर पर चढ़ा हुआ था, अतः एक भी काम पूरा न हो सका ।

स्वामी हूंणां सोहरा, दोद्धा हूंणां दास ।
गाडर आंणीं ऊन कूं, बांधी चरै कपास ॥३॥

स्वामी बनना सरल है, पर दास होना कठिन है । भेड़ को लाये तो थे ऊन के लिये, पर वह घर में रखे हुए कपास को भी खाये जाती है ।

स्वांमी हूवा सीत का, पैकाकार पचास ।
राम नांम कांठै रह्या, करै सिषां की आस ॥४॥

हैं तो एक सीत (दाने) के स्वामी, पर पैरोकार (कार्यकर्त्ता, सेवक) पचासों लगे हुए हैं । राम का नाम (हृदय में नहीं, केवल) कंठ में रहता है, पर शिष्य बनाने की अभिलाषा बराबर लगी रहती है ।

कबीर, तष्टा टोकणीं, लीये फिरै सुभाइ ।
राम नाम चीन्हैं नहीं, पीतल ही कै चाइ ॥५॥

कबीर कहते हैं, स्वभाव से ही तू तसला, टोकनी के लिये घूम रहा है । राम नाम को पहिचानता नहीं । तेरा उत्साह केवल पीतल की ओर लगा हुआ है ।

कलि का स्वांमीं लोभिया, पीतलि धरी षटाइ ।
राज दुवारां यौं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥६॥

कलियुग का सन्यासी लोभी है। उसने पीतल पर खटाई कर रखी है (जिससे वह स्वर्ण के समान चमकती है) वह राजद्वार पर इस प्रकार घूमता है, जैसे खूँटे से रस्सी तोड़कर इधर-उधर भागने वाली गाय ।

कलि का स्वांमीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ ।
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करतां जाइ ॥७॥

कलियुग का स्वामी लोभी है। उसने अनेक इच्छायें अपने अन्दर बाँध रखी हैं। वह दूसरों को ब्याज पर पैसा देता है, और उसका हिसाब रखता है।

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ ॥८॥

कबीर कहते हैं, कलियुग में खोटापन, झूठ और दम्भ प्रचलित हैं । संयमी मुनीश्वर कोई भी दिखलाई नहीं देता। जो लालची हैं, लोभी हैं, मसखरे हैं, उन्हीं का इस समय आदर होता है ।

चारिउं बेद पढ़ाय करि, हरि सूं न लाया हेत ।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढ़ै खेत ॥९॥

पण्डित ने चारों वेद दूसरों को पढ़ा दिये, पर स्वयं भगवान से अनुराग न कर सका। खेत में पैदा हुई धान की बालि रूप फल को कबीर ने ग्रहण कर लिया, पण्डित खेत को ही ढूँढता रहा।

बांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरू नाहिं ।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउ बेदा माहिं ॥१०॥

ब्राह्मण जगत का गुरु है, परन्तु साधु का गुरु नहीं है, क्योंकि वह चारों वेदों के अध्ययन में ही उलझ-उलझ कर जीवन खो रहा है।

साषित सण का जेवड़ा, भीगां सूं कठठाइ ।
दोइ आषिर गुरू बाहिरा, बांध्या जमपुरि जाइ ॥११॥

शाक्त सन की रस्सी के समान है, जो भीगने पर और भी अधिक कठोर हो जाती है। प्रेम के दो अक्षर और गुरु से वह बहुत दूर है; इसी कारण बँधकर नरक में जायगा।

पाड़ोसी सूं रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भये सरावगी, पांणी पीवैं छांणि ॥१२॥

अपने पड़ोसी से रुष्ट होने में क्रमिक रुप से सुख की हानि होती रहती है। इसी कारण पण्डित श्रावक (जैनी) होकर पानी को छान कर पीते हैं।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतर भेद्या नाहिं।
औरूं कौं परमोधतां, गया मुहरका माहिं ॥१३॥

मैं पण्डितों से कहता हूँ कि जो कुछ तुम दूसरों को उपदेश देते हो, वह तुम्हारे अन्दर छिद नहीं सका है। अपने लिये तुमने मुख पर मुहरका (आच्छादन) लगा रखा है, पर दूसरों को प्रबोध दे रहे हो।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पन्जर माहिं।
फिरि प्रमोधै आंन कौं, आपण समझै नाहिं ॥१४॥

जो चतुराई (रटने की) सुआ ने पढ़ी है, वही तुम्हारे शरीर के अन्दर है। बार-बार दूसरों को उपदेश देते हो, पर स्वयं कुछ भी नहीं समझते।

रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत।
औरौं कौं प्रमोधतां, मुख मैं पड़िया रेत ॥१५॥

अपने घर का खेत तो खा डाला, पर दूसरों की राशि की रक्षा कर रहा है। जो केवल दूसरों को उपदेश देता है, उसके मुख में धूलि पड़ेगी—वह धूलि फाँकेगा।

तारां मंडल बैसि करि, चंद बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूं तारां छिपि जाइ ॥१६॥

तारक मण्डल में बैठकर ही चन्द्रमा को बड़ाई प्राप्त होती है, परन्तु जब सूर्य का उदय होता है, तो वह ताराओं के साथ तिरोहित हो जाता है।

देषण के सबको भले, जिसे सीत के कोट ।
रवि के उदै न दीसहीं, बँधै न जल की पोट ॥१७॥

हिम के बने हुए दुर्ग केवल देखने में ही सबको अच्छे लगते हैं । सूर्य के उदय होने पर वह दिखलाई भी नहीं देते । जल की गठरी कभी बाँधी नहीं जा सकती ।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघै पांणीं न्हाइ ।
रांमहिं रांम जपंतड़ा, काल घसीटयां जाइ ॥१८॥

संसार तीर्थ करके और दुर्गन्धित जल में स्नान करके मर गया । राम-राम का जाप करता ही रहा, फिर भी काल ने जाकर उसे घसीट डाला ।

कासी कांठै घर करैं, पीवैं निर्मल नीर ।
मुकति नहीं हरि नांव बिन, यौं कहै दास कबीर ॥१९॥

यदि आप काशी के समीप घर बना लेते हैं और गंगा के निर्मल जल का पान करते हैं, तो भी भगवान के नाम को जपे बिना आपको मुक्ति नहीं मिलेगी—ऐसा कबीरदास कहते हैं ।

कबीर इस संसार कौं, समझाऊं कै बार ।
पूंछ जु पकड़ै भेड़ की, उतरचा चाहै पार ॥२९॥

कबीर कहते हैं, इन संसारी प्राणियों को मैं कितनी बार समझाऊँ ? पूँछ तो पकड़ते हैं भेड़ की और (संसार-रूपी सागर से) पार हो जाना चाहते हैं ।

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूं मैं ध्रंम ।
कोटि क्रम सिर ले चल्या, चेत न देखै भ्रम ॥२१॥

कबीर कहते हैं, मनुष्य यह समझकर कि मैं धर्म करता हूँ, मन में फूला नहीं समाता और इस प्रकार करोड़ों कर्मों का बोझ शिर पर लादकर चल देता है । मोह से जागकर अपने भ्रम को नहीं देखता ।

मोर तोर की जेवड़ी, बलि बंध्या संसार ।
कांसि कडूंवा, सुत, कलित, दाझण बार बार ॥२२॥

मेरे और तेरे-पन-की रस्सी से बलि-पशु की भाँति संसार बँधा हुआ है। कांसे आदि के बर्तन, कड़े, पुत्र और स्त्री—ये सब बार-बार जलाने वाले हैं। कड़ुंवा = कड़ा या टोंटीदार करवा।

१८—करणीं बिना कथणीं कौ अंग

कथणीं कथी तो क्या भया, जे करणीं नां ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जांइ ॥१॥

किसी बात के कहने मात्र से क्या होता है, यदि उसके अनुकूल कर्म नहीं किया जाता। वह तो कलाबत्तू के किले के समान चमकती हुई, देखते ही देखते नष्ट हो जायगी। कालबूत = मकान में डाट लगाने के पहले जो नकली भराव भरा जाता है या कलाबत्तू = कच्चा धागा

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै, पल मैं करै निहाल ॥२॥

मुख से जैसी बात निकले, यदि उसके समान आचरण भी हो तो परम्ब्रह्म सदैव निकट रहे और पल भर में निहाल कर दे।

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालैं नाहिं।
मानिष नहीं ते स्वान गति, बांध्या जमपुर जाहिं ॥३॥

मुख से जैसी बात निकले, यदि उसके समान आचरण न हो, तो उसे मनुष्य नहीं, श्वान की गति प्राप्त होती है और वह बँधकर नरक में जाता है।

पद गांएं मन हरषिया, साषी कह्या अनन्द।
सो तत नांव न जांणियां, गल मैं पड़िया फंद ॥४॥

पद गाने से मन हर्षित होता है और साखी कहने से आनन्द प्राप्त होता है परन्तु यदि तत्व रूप भगवान के नाम को नहीं जान पाया, तो गले में फंदा अवश्य पड़ेगा।

करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड ।
जाणै बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूंड ॥५॥

मुख ऊपर करके प्रभु का कीर्तन करता हुआ तो दिखाई देता है, परन्तु भगवान के विषय में जानता बूझता कुछ भी नहीं है । अतः वह अंधे, शिर-विहीन रुण्ड के समान है ।

१९—कथर्णी बिना करर्णी कौ अंग

मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थैं भलौ जोग ।
रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥१॥

मैं जानता हूँ, पढ़ना अच्छा है और पढ़ने से भी योग-साधन अच्छा है । लोग भले ही तुम्हारी खूब निन्दा करें, पर तुम्हें राम नामसे अवश्य प्रेम करना चाहिये ।

कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ ।
बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ ॥२॥

कबीर कहते हैं, पढ़ना दूर कर दो, पुस्तक को फेंक दो । बावन अक्षरों में से खोजकर 'र' और 'म' को पकड़ लो, अर्थात् राम में चित्त लगाओ ।

कबीर पढ़िवा दूरि करि, आथि पढ्या संसार ।
पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूं करि करै पुकार ॥३॥

कबीर कहते हैं, पढ़ना लिखना दूर कर दो, क्योंकि संसार ने तो स्वार्थ का पाठ पढ़ा है । भगवत्प्रेम की पीड़ा यदि अन्दर उत्पन्न नहीं हुई, तो वेद-पाठ आदि के चिल्लाने से क्या लाभ होगा ?

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै आषिर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ ॥४॥

पुस्तकें पढ़-पढ़ कर संसार मर गया, पर कोई भी (यथार्थ) पंडित बन न सका। पर जो प्रिय ब्रह्म का एक ही अक्षर (ॐ) पढ़ लेता है, वह पंडित हो जाता है।

२०-कामी नर कौ अंग

कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि।
रांम सनेही ऊबरे, विषयी खाये झारि ॥१॥

तीनों लोकों में स्त्री काली सर्पिणी के समान है। जो विषय-वासना में लीन हैं, उन सबको यह खा जाती है; पर जो भगवान से प्रेम करने वाले हैं, वे बच जाते हैं।

कांमणि मीनी षांणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ।
जे हरि चरणां राचिया, तिनके निकट न जाइ ॥२॥

स्त्री शहद की मक्खी है। यदि उसको छेड़ा जाय तो काट खाती है। परन्तु जो भगवान के चरणों में अनुरक्त हैं, उनके निकट भी नहीं जाती।

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहिं।
दिवस चारि सरसा रहैं, अंत समूला जांहिं ॥३॥

जो मनुष्य चोरी करके बढ़ाये हुये धन से विलास करते हैं और पराई स्त्री में अनुरक्त रहते हैं, वे केवल चार दिन के लिये फलते-फूलते दिखलाई देते हैं। अन्त में समूल नष्ट हो जाते हैं।

पर नारी, पर सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ।
खातां मीठी खांड सी, अंति कालि विष होइ ॥४॥

पराई नारी यदि परा कोटि की सुन्दरी है, तो उससे कोई बिरला व्यक्ति ही बच पाता है। खाने में (बिलास करने में) तो वह मीठी शक्कर के समान जान पड़ती है, पर अन्त समय में विष बन जाती है।

पर नारी कै राचणैं, औगुण है, गुण नांहिं ।
षार समंद मैं मंछला, केता बहि बहि जांहिं ॥५॥

पराई स्त्री में अनुरक्त होना अवगुण है, गुण नहीं है । इस खारी समुद्र में न जाने कितनी मछलियाँ (आत्मायें)बह जाती हैं ।

पर नारी कौ राचणौं, जिसी ल्हसन की षांनि ।
षूंणैं बैसि रषाइये, परगट होइ दिवानि ॥६॥

पराई स्त्री में अनुरक्त होना लहसुन की खान के समान है, जिसकी गंध दूर से ही मालूम पड़ जाती है । हत्या को चाहे जितने प्रयत्न करके छिपाओ, पर वह अन्त में न्यायालय में प्रकट हो ही जाती है । दिवानि = न्यायालय

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते रांम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥७॥

जब तक शरीर में काम वासना रहती है, तब तक नर और नारी सब नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं । परन्तु जो निष्काम होकर प्रभु का नाम स्मरण करते हैं, वे प्रभु के भक्त हैं ।

नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरै ।
कांइ गमावैं देह, कारिज कोई नां सरै ॥८॥

स्त्री से स्नेह करना बुद्धि और विवेक सबको नष्ट कर देता है । फिर मानव ! क्यों तू अपने को नष्ट करता है ? इससे कोई भी तो कार्य नहीं बनता ।

नाना भोजन, स्वाद सुख, नारी सेती रंग ।
बेगि छाँड़ि पछिताएगा, ह्वै है मूरति भंग ॥९॥

अनेक प्रकार के भोजनों का सुख पूर्वक स्वाद प्राप्त करना, स्त्री के साथ विलास करना—इन सबको शीघ्र ही छोड़ दे, नहीं तो पश्चात्ताप करेगा और सारा शरीर नष्ट हो जायगा ।

नारि नसावै तीन सुख, जा नर पासैं होइ ।
भगति, मुकति, निज ग्यान में, पैसि न सकई कोइ ॥१०॥

स्त्री जिस पुरुष के पास रहती है, उसके तीन सुखों को नष्ट कर देती है। भक्ति, मुक्ति और आत्मज्ञान—इनमें फिर कोई भी मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता।

एक कनक अरु कांमनीं, विष फल कीएउ पाइ।
देखैं ही थैं विष चढ़ै, खाये सूं मरि जाइ ॥११॥

एक स्वर्ण, द्वितीय स्त्री—इन्हें पाकर मानों विष का फल ही प्राप्त हो जाता है। इनको देखने से ही विष चढ़ आता है और यदि खालो, तब तो मृत्यु निश्चित है ही।

एक कनक अरु कांमनीं, दोऊं अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै, परस्या है पैमाल ॥१२॥

स्वर्ण और स्त्री दोनों अग्नि की ज्वाला हैं। इनको देखते ही शरीर प्रज्वलित हो उठता है। स्पर्श करने से तो सर्वनाश निश्चित है ही।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गड़ंत।
केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत ॥१३॥

कबीर कहते हैं, रति के प्रेम के कारण न जाने कितने व्यक्ति नष्टभ्रष्ट हो चुके हैं; और आज भी इसके कारण अनेक प्राणी हँसते-हँसते नरक की ओर जारहे हैं।

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं, निकटिं रहैं तें नीच ॥१४॥

स्त्री संसार की जूठन है। [illegible] भले और बुरे में कोई अन्तर नहीं करती। जो उत्तम जीव हैं, वे इससे अलग रहते हैं। जो इसके निकट रहते हैं, वे नीच हैं।

नारी कुंड नरक का, बिरला थंमै बाग।
कोई साधू जन ऊबरे, सब जग मूवा लाग ॥१५॥

नारी नरक का कुण्ड है। इसको देख कर बिरला प्राणी ही अपने को नियंत्रण में रख सकता है। केवल कुछ साधु पुरुष ही इससे बच सकते हैं। अन्यथा सारा

संसार स्त्री से लगकर मृत्यु को प्राप्त होता है । थंमै बाग=लगाम थामना, नियंत्रण में रखना ।

सुन्दरि थै सूली भली, बिरला बंचै कोइ ।
लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होइ ॥१६॥

स्त्री से तो फाँसी अच्छी है, क्योंकि इससे कोई बिरला प्राणी ही बच पाता है । यह ऐसी अग्नि है जिसमें यदि उत्तम लोहा भी डाल दिया जाय तो वह जलकर कोयला हो जाता है ।

अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल ।
और गुनह हरि बकससी, कांमी डाल न मूल ॥१७॥

कामान्ध पुरुष होश में नहीं आता और उसके संशय तथा कष्ट भी नष्ट नहीं होते, और पापों को तो भगवान क्षमा भी कर देता है, पर कामी पुरुष डाल या मूल कहीं का नहीं रहता ।

भगति बिगाड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि ।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि ॥१८॥

इंद्रिय के स्वाद में कामी पुरुष ने भक्ति को नष्ट कर दिया । उसने अपने हाथ आये हुये हीरे को खो दिया और व्यर्थ में जीवन बरबाद किया ।

कामीं अमीं न भावई, बिषई कौं ले सोधि ।
कुबुधि न जाई जीव की, भावै स्यंभु रहौ प्रमोधि ॥१९॥

कामी पुरुष को अमृत अच्छा नहीं लगता । वह विष को ही खोजा करता है । कामी पुरुष को चाहे स्वयं महादेव आकर उपदेश करें, तो भी उसकी कुबुद्धि दूर नहीं होती ।

बिषै विलंबी आत्मां, ताका मजकण खाया सोधि ।
ग्यांन अंकूर न ऊगई, भावै निज प्रमोध ॥२०॥

जो आत्मा विषय-वासना में निरत है, विषय उसके मज्जाकण तक को खोज-खोजकर खा जाता है । उसके अन्दर ज्ञान का अंकुर उदय नहीं होता, उसे अपनी ही बात या अपना ही आमोदप्रमोद अच्छा लगता है ।

विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नरनाग ।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग ॥२१॥

विषय-वासना रूप कर्म की केंचुल धारण करके मनुष्य सर्प बन जाता है । वह अपना शिर फोड़ डालता है, उसे दिखलाई नहीं देता । यह किसी पूर्व दुर्भाग्य का ही फल है ।

कामीं कदे न हरि भजैं, जपै न केसौ जाप ।
रांम कह्या थैं जलि मरै, को पूरबिला पाप ॥२२॥

कामी पुरुष कभी भगवान का भजन नहीं करता और न उसके नाम का जाप ही करता है । राम कहने से तो वह जल मरता है—यह किसी पूर्व के पाप का ही परिणाम है ।

कांमी लज्या नां करै, मन मांहैं अहिलाद ।
नींद न मांगै सांथरा, भूष न मांगै स्वाद ॥२३॥

कामी पुरुष निर्लज्ज होता है, फिर भी मन में आल्हादित होता रहता है । जब नींद लगती है तब बिस्तर और जब भूख लगती है तब स्वाद नहीं देखा जाता ।

नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहिं जाइ ।
आगि आगि सबरौ कहै, तामैं हाथ न बाहि ॥२४॥

पराई स्त्री के साथ अपनी स्त्री के समान भोग करने से मनुष्य नरक में जाता है । पराई स्त्री को सभी व्यक्ति अग्नि-अग्नि कह कर पुकारते हैं । उसमें हाथ मत डालो ।

कबीर कहता जात हौं, चेतै नहीं गँवार ।
वैरागी गिरही कहा, कांमी वार न पार ॥२५॥

कबीर कहते हैं, मैं समझाता हूँ; परन्तु ओ मूर्ख, तू सावधान नहीं होता । चाहे वैरागी हो और चाहे गृहस्थ—इनमें जो भी कामी है वह न इधर का रहता है, न उधर का । लोक और परलोक दोनों में ही विफल रहता है ।

ग्यांनीं तौ नींडर भया, मांनैं नांहीं संक ।
इंद्री केरे बसि पड़्या, भूँचै बिषै निसंक ।।२६।।

ज्ञानी मनुष्य निर्भय हो जाता है तो वह किसी की शंका नहीं करता और इन्द्रियों के वशीभूत होकर निःशंक रूप से विषयों का भोग करता है।

ग्यांनी मूल गँवाइया, आपण भये करता ।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहै डरता ।।२७।।

ज्ञानी पुरुष अपने को कर्ताधर्ता समझ कर, अहंकार में पड़कर, अपने मूलतत्त्व आत्मा को खो देते हैं। उनसे तो संसारी पुरुष अच्छे हैं जो मन में पाप करने से डरते तो रहते हैं।

२१—सहज कौ अंग

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ।।१।।

सब सहज सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है, इसे कोई भी नहीं जानता। जिन्होंने स्वभाव से ही विषय-वासना को छोड़ दिया है, उनको ही सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिए।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
पांचूं राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ।।२।।

सब सहज-सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है इसे कोई भी नहीं जानता। जो पाँचों इन्द्रियों को प्रभु का स्पर्श करती हुई अर्थात उसका अनुभव करती हुई रखता है, उसी को सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिये।

सहजैं सहजैं सब गये, सुत बित कांमणि कांम ।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा रांम ।।३।।

सहज सहज ही पुत्र, धन, स्त्री और कामना सब नष्ट हो गये और दास कबीर राम के साथ घुलमिल कर एक हो गया ।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥४॥

सब सहज-सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है, इसे कोई भी नहीं जानता । जिनको स्वभाव से ही भगवान प्राप्त हैं, उन्हीं को सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिये ।

२२—सांच कौ अंग

कबीर पूंजी साह की, तूं जिनि खोवै ख्वार ।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार ॥१॥

कबीर कहते हैं, ओ मन्द प्राणी ! ब्रह्मरूपी साहूकार की दी हुई पूँजी को व्यर्थ ही में नष्ट मत कर; अन्यथा हिसाब देने के समय बड़ी मार पड़ेगी ।

ख्वार = वृथा, मन्दा, नीच

लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ ।
उस चंगे दीवान में, पला न पकड़ै कोइ ॥२॥

यदि दिल में सचाई है तो हिसाब देना अच्छा लगता है । यम के न्यायपूर्ण दरबार में फिर कोई पल्ला नहीं पकड़ता, खींचकर नरक में नहीं डालता ।

कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि ।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ॥३॥

कबीर का हृदय प्रकाशित हो गया । उन्होंने मृत्यु को दूर भगा दिया । यमराज के दरबार में जब चित्रगुप्त ने बही निकाली तो कबीर का हिसाब पूरा पाया । पयाना = प्रयाण, मृत्यु

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार ।
जब लग सांस सरीर मैं, तब लग रांम सँभार ॥४॥

ग्यांनीं तौ नींडर भया, मांनैं नांहीं संक ।
इंद्री केरे वसि पड़्या, भूँचै बिषै निसंक ॥२६॥

ज्ञानी मनुष्य निर्भय हो जाता है तो वह किसी की शंका नहीं करता और इन्द्रियों के वशीभूत होकर निःशंक रूप से विषयों का भोग करता है।

ग्यांनी भूल गँवाइया, आपण भये करता ।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहै डरता ॥२७॥

ज्ञानी पुरुष अपने को कर्ताधर्ता समझ कर, अहंकार में पड़कर, अपने मूलतत्व आत्मा को खो देते हैं। उनसे तो संसारी पुरुष अच्छे हैं जो मन में पाप करने से डरते तो रहते हैं।

२१-सहज कौ अंग

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥१॥

सब सहज सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है, इसे कोई भी नहीं जानता। जिन्होंने स्वभाव से ही विषय-वासना को छोड़ दिया है, उनको ही सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिए।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
पांचूं राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥२॥

सब सहज-सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है इसे कोई भी नहीं जानता। जो पाँचों इन्द्रियों को प्रभु का स्पर्श करती हुई अर्थात उसका अनुभव करती हुई रखता है, उसी को सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिये।

सहजैं सहजैं सब गये, सुत बित कांमणि कांम ।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा रांम ॥३॥

सहज सहज ही पुत्र. धन, स्त्री और कामना सब नष्ट हो गये और दास कबीर राम के साथ घुलमिल कर एक हो गया ।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥४॥

सब सहज-सहज कहते हैं, परन्तु सहज क्या है, इसे कोई भी नहीं जानता । जिनको स्वभाव से ही भगवान प्राप्त हैं, उन्हीं को सहज-ज्ञान-प्राप्त कहना चाहिये ।

२२-सांच कौ अंग

कबीर पूंजी साह की, तूं जिनि खोवै ष्वार ।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती वार ॥१॥

कबीर कहते हैं, ओ मन्द प्राणी ! ब्रह्मरूपी साहूकार की दी हुई पूँजी को व्यर्थ ही में नष्ट मत कर; अन्यथा हिसाब देने के समय बड़ी मार पड़ेगी ।

ख्वार = वृथा, मन्दा, नीच

लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ ।
उस चंगे दीवान में, पला न पकड़ै कोइ ॥२॥

यदि दिल में सचाई है तो हिसाब देना अच्छा लगता है । यम के न्यायपूर्ण दरबार में फिर कोई पल्ला नहीं पकड़ता, खींचकर नरक में नहीं डालता ।

कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि ।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ॥३॥

कबीर का हृदय प्रकाशित हो गया । उन्होंने मृत्यु को दूर भगा दिया । यमराज के दरबार में जब चित्रगुप्त ने बही निकाली तो कबीर का हिसाब पूरा पाया । पयाना = प्रयाण, मृत्यु

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार ।
जब लग सांस सरीर मैं, तब लग रांम सँभार ॥४॥

चित्रगुप्त ने जब अपनी बही निकाली, तब हिसाब का वारपार नहीं था। इसलिये कबीर कहते हैं, जब तक शरीर में सांस है, तब तक राम-नाम का स्मरण करते रहो।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
सांचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥५॥

पाँच बार नमाज पढ़ना—यह सब मिथ्या प्रार्थना है जबकि काजी मिथ्या आयतें पढ़ के सत्य की हत्या करता है और इस प्रकार अपनी हानि करता है।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं सांचा होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, काजी स्वाद के वशीभूत होकर दो ब्रह्मों की हत्या करता है (एक वह पशु जिसका वह मांस खाता है और दूसरा साक्षात ब्रह्म जिसकी वह अवहेलना करता है)। मसजिद पर चढ़कर कहता है कि ईश्वर एक है। फिर यमराज के दरबार में यह कैसे सच्चा सिद्ध होगा ?

काजी मुल्लां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥

काजी और मुल्ला भ्रम में पड़े हैं और दीन के साथ नहीं, दुनियाँ के साथ चलते हैं। हृदय से ये धर्म को विस्मृत कर देते हैं। जब (पशु को काटने के लिये) हाथ में छुरी लेते हैं तो—

जोरी करि जिबहै करैं, कहते हैं जु हलाल।
जब दफतर देखैगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल ॥८॥

बल पूर्वक पशु को काटकर ये अपने कर्म को हलाल (उचित) ठहराते हैं। जब ईश्वर कार्यालय में इनका लेखा-जोखा देखेगा तब क्या हाल होगा ?

जोरी कीयां जुलम है, मांगै न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहिं खाइ ॥९॥

जबरदस्ती करना अत्याचार है। ईश्वर न्याय चाहता है। परमात्मा के द्वार पर खड़ा हुआ हत्यारा मुख पर तमाचे ही तमाचे खाता है।

साईं सेती चोरियाँ, चोरां सेती गुझ ।
जाणैगा रे जीवड़ा, मार पड़ेगी तुझ ॥१०॥

अरे जीव ! प्रभु से तो तू चोरी करता है और चोरों से दोस्ती रखता है । जब तुझ पर मार पड़ेगी तब तेरी समझ ठीक टिकाने आवेगी ।

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ ॥११॥

ओ शेख ! तू सब्र संतोष से बाहिर है, असंतोषी है, फिर हज करने के लिए काबे जाने से क्या लाभ ? जिनका हृदय ही परिपूर्ण नहीं है, उनको ईश्वर कहाँ मिलेगा ?

खूब खांड़ है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण ।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ॥१२॥

खिचड़ी ही बहुत अच्छी मिठाई है, यदि उसमें थोड़ा-सा नमक पड़ जाय । पेडा रोटी खाकर, विलास में पड़कर, अपना गला कौन कटावे ?

पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ ॥१३॥

जो पापी पूजा में बैठकर भी मांस और मदिरा इन दो का सेवन करता है, उसे मुक्ति की अवस्था प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत फलस्वरूप करोड़ों नरकों की यातनायें भोगनी पड़ती हैं ।

सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि गिलि खांहिं ।
हरि दासन की भ्रांति करि, केवल जमपुर जाहिं ॥१४॥

सब वर्णों के मनुष्य एकत्र होकर शक्ति की पूजा करते हैं और मिलकर मांस तथा मदिरा का भक्षण करते हैं । हरि भक्तों का ढोंग रच कर ये केवल नरक--भागी बनते हैं ।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नांहीं साँच ।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै कांच ॥१५॥

कबीर कहते हैं, लोक लज्जा के कारण तू सत्य का स्मरण नहीं करता । तू जान बूझ कर स्वर्ण को छोड़ रहा है और निकट के काँच को पकड़ रहा है ।

कबीर जिनि जिनि जांणियां, करता केवल सार ।
सो प्रांणों काहे चलै, झूठे जग की लार ॥१६॥

कबीर कहते हैं, जिस-जिस व्यक्ति ने यह समझ लिया कि केवल भगवान ही सार रूप है; वे मिथ्या संसार की लालसा में क्यों जीवन-यापन करेंगे ?

झूठे कों झूठा मिलै, दूणां बँधै सनेह ।
झूठे कौं साचा मिलै, तब ही तूटै नेह ॥१७॥

जब झूठे आदमी को दूसरा झूठा आदमी मिलता है तो दूना प्रेम बढ़ता है । पर जब झूठे को सच्चा आदमी मिलता है, तभी प्रेम टूट जाता है ।

२३–भ्रम विधौंसण कौ अंग

पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार ।
इही भरोसै जे रहे, तेबूड़े काली धार ॥१॥

जो मनुष्य पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मानकर पूजते हैं और उसी के आश्रय पर रहते हैं, वे मँझधार में डूबते हैं ।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट ।
पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट ॥२॥

यह संसार काजल की कोठरी है । इसमें कर्मरूपी किवाड़ भी कालौंछ (कालिमा = कलुष) के ही बने हुए हैं । पंडितों ने पृथ्वी पर पत्थर की मूर्तियाँ स्थापित करके मार्ग का निर्माण किया है ।

पांहन कूं का पूजिये, जे जनम न देई जाब ।
आंधा नर आसामुषी, यौं ही खोवै आब ॥३॥

पत्थर को क्यों पूजा जाय जो जन्म भर उत्तर नहीं देता आशाओं की ओर उन्मुख अंधा मनुष्य (मूर्ति पूजा करके) व्यर्थ ही अपने मान को नष्ट करता है ।

हम भी पांहन पूजते, होते रन के रोझ ।
सतगुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ ॥४॥

यदि हम जंगली नील गाय होते तो हम भी पत्थर की पूजा करते । परन्तु सद्गुरु की कृपा से पत्थर पूजा के बोझ को हमने शिर से उतार कर फैंक दिया ।
रन = अरण्य, जंगल ।

जेती देषौं आत्मां, तेता सालिगरांम ।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं कांम ॥५॥

जितनी आत्मायें दिखलाई देती हैं, उतने ही भगवान हैं । साधु प्रत्यक्ष देवता हैं ! पत्थर की मूर्ति से कोई काम नहीं, वह निरर्थक है ।

सेवैं सालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाइ ।
सीतलता सुपिनैं नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ॥६॥

शालिग्राम की मूर्ति की पूजा करता है, फिर भी मन की भ्रान्ति दूर नहीं होती । स्वप्न में भी शीतलता का अनुभव नहीं होता । प्रतिदिन मायामोह की अग्नि प्रबल होती जाती है ।

सेवैं सालिगराम कूं, माया सेती हेत ।
वोढैं काला कापड़ा, नांव धरावै सेत ॥७॥

शालिग्राम की पूजा करता है और माया में फँसा है । काला कपड़ा ओढ़ रखा है और चाहता है, उसे श्वेत नाम से लोग पुकारें ।

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास ।
सूवैं सैंवल सेविया, यों जग चल्या निरास ॥८॥

जप, तप तथा तीर्थ और व्रत में विश्वास सब थोथे हैं । जैसे सुआ (शुक) शालमली वृक्ष की व्यर्थ सेवा करता है, इसी प्रकार संसार को तीर्थ आदि से निराश होना पड़ता है ।

तीरथ तौ सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ ॥९॥

सब तीर्थ लता की तरह सारे संसार में छाये हुए हैं। कबीर ने इस लता की जड़ को ही (यह सोच कर) काट डाला कि इस के फलस्वरूप विष को नहीं खाना चाहिये।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जांणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ॥१०॥

मन ही मथुरा है, हृदय द्वारका है और शरीर काशी है। दशवाँद्वार (ब्रह्मरंध्र) देवालय है। उसमें प्रकाशित ज्योति को पहिचानो।

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यो लाइ ॥११॥

कबीर कहते हैं संसार मंदिरों के आगे शिर झुकाने जाता है। परन्तु भगवान हृदय के अन्दर निवास करते हैं। तू उन्हीं में अपना ध्यान लगा।

२४—भेष कौ अंग

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल ।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥१॥

हाथ से माला जप रहा है, पर हृदय में वासनाओं की आँधी चल रही है। पैर पाले में गल गये थे। अब भागता है तो उन में काँटे चुभते हैं।

कर पकरैं अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर ।
जाहि फिरांया हरि मिलैं, सो भया काठ की ठौर ॥२॥

हाथ से माला पकड़े है और अँगुलियों से गुरियों को गिनता जाता है, परन्तु मन पूजा से हटकर चारों ओर दौड़ रहा है। जिसको फिराने से प्रभु मिलते हैं, वह मन काठ के समान जड़ हो गया है।

माला पहिरे मनमुषी, ताथैं कछू न होइ ।
मन माला कौं फेरतां, जुग उजियारा सोइ ॥३॥

अरे भक्त ! तूने मनमुखी (गुरु भाव से रहित अहंकारी) माला धारण करली है। इससे कुछ भी फल प्राप्त नहीं होगा। जो मन की माला फेरता है, उसके लिए दोनों ओर (लोक तथा परलोक में) उजाला होता है । मनमुखी = अपने मन को ही जिसने मुख अर्थात् उपदेश देने वाला गुरु बना लिया है; निगुरा अथवा अहंकारी मनमुखी का विपरीत है । गुरुमुख = गुरु से उपदेश लेने वाला ।

माला पहरे मनमुषी, वहुतैं फिरैं अचेत ।
गांगी रोलै वहि गया, हरि सूं नाहीं हेत ॥४॥

मनमुखी माला धारण किये हुए अनेक मनुष्य भगवान की ओर से बेसुध हुए घूम रहे हैं। ये व्यक्ति भगवान से प्रेम नहीं करते अतः संसार के कोलाहल में बह जाते हैं।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि ।
मन न फिरावै आपणां, का फिरावै मोहि ॥५॥

कबीर कहते हैं, काठ की माला तुझे यह कह कर समझाती है कि तू मुझे क्या घुमाता है ? अपने मन को परिवर्तित कर ।

कबीर माला मन की, और सँसारी भेष ।
माला पहिरयां हरि मिलैं, तौ अरहट कै गलि देष ॥६॥

कबीर कहते हैं, सच्ची माला तो मन की माला है । और मालायें तो सांसारिक वेष के रूप में हैं। यदि माला पहिनने से भगवान मिल जाते तो रहँट के गले में देखो, कितने घड़ों की मालायें पड़ी हैं !

माला पहरयां कुछ नहीं, रुल्य मूवा इहि भारि ।
बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भँगारि ॥७॥

माला पहिनने से कुछ नहीं होता। इसके बोझ से दबकर मनुष्य मर जाता है। बाहर से गेरू पुता हुआ है, पर भीतर विषय-विकार की गन्दगी भरी हुई है।
रुल्य = रलकर, दबकर ।

माला पहरयां कुछ नहीं, काती मन कै साथि ।
जब लग हरि प्रकटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि ॥८॥

माला पहिनने से कुछ नहीं होता । मन के साथ कातना चाहिये, प्रभु का ध्यान करना चाहिये । माला पर हाथ तभी तक पड़ता है, जब तक भगवान प्रकट नहीं होते ।

माला पहरयां कुछ नहीं, गांठि हिरदा की खोइ ।
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥९॥

माला पहिनने से कुछ नहीं होता । हृदय की गाँठ खोलो । भगवान के चरणों में चित्त लगाओ, तो स्वर्ग प्राप्त होगा ।

माला पहरयां कुछ नहीं, भगति न आई हाथि ।
माथौ मुंछ मुंड़ाइ करि, चल्या जगत कै साथि ॥१०॥

यदि भक्ति प्राप्त न हुई तो माला पहिनने से भी कुछ भी न होगा । शिर और मूँछ मुड़ाकर भी मनुष्य संसार के साथ चलता है—साधारण मनुष्यों की भाँति आचरण करता है ।

साईं सेती सांच चलि, औरां सूं सुधि भाइ ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाई ॥११

प्रभु के साथ सत्य आचरण करो तथा अन्यों के साथ सरल भाव से चलो । फिर चाहे लम्बे केश रखो और चाहे घुटाकर शिर को मुड़ा दो ।

केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूड़ै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूड़िये, जामैं बिषै बिकार ॥१२॥

बालों ने क्या बिगाड़ा है जो उनको अनेक बार काटा जाता है ? मन को क्यों नहीं मूँड़ते जिसमें विषय-विकार भरे पड़े हैं ।

मन मैवासी मूँड़ि लै, केसौं मूड़ै कांइ ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीया नाहिं ॥१३॥

शरीर रूपी गढ़ के अन्दर रहने वाले मनरूपी चोर को मूड़ो । बालों को क्यों मूड़ते हो ? बालों ने तो कुछ भी नहीं किया । जो कुछ किया है वह मन ने किया है ।

मूंड़ मुड़ावत दिन गये, अजहूँ न मिलिया रांम ।
रांम नाम कहु क्या करै, जे मन के और कांम ॥१४॥

शिर मुड़ाते हुए न जाने कितने दिन व्यतीत हो गये, परन्तु आज तक भगवान न मिले । जब मन ही अन्य कार्यों में फँसा है तो राम का नाम लेना क्या कर सकता है ?

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पिया षूंदि ।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ॥१५॥

स्वाँग के चटक मटक वाले कपड़े पहिन कर प्रसिद्धि प्राप्त करली और खूब खूँद-खूँद कर खातेपीते रहे । घर जिस मार्ग पर साधु चलते हैं, उस मार्ग को तुमने बन्द ही कर रखा है ।

वैसनों भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥१६॥

वैष्णव हो जाने से क्या होता है, यदि विवेक जाग्रत न हुआ । मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा में छापा और तिलक लगा कर तो अनेक व्यक्ति दग्ध हो चुके हैं ।

तन कौं जोगी सब करैं, मन कौं विरला कोइ ।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१७॥

शरीर को योगी (भगवे वस्त्र धारण कर) सब बना लेते हैं, पर मन को योगी बनाना बिरले व्यक्तियों ही का काम है । यदि मन योगी हो गया, तो सारी सिद्धियाँ सहज ही में प्राप्य हो जाती हैं ।

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष ।
भरम करम सब दूरि करि, सब ही मांहि अलेष ॥१८॥

कबीर कहते हैं, भगवान तो एक है, परन्तु उसके और अपने बीच में हमने वेष का आवरण डाल रखा है, अतः भ्रमजन्य समस्त कर्मों को दूर कर दो । वह अलख प्रभु सबके अन्दर विद्यमान है ।

भरम न भागा जीव का, अनंतहि धरिया भेष ।
सतगुर परचै बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष ॥१९॥

अलख प्रभु अन्दर ही विराजमान था, परन्तु सद्गुरु से परिचय न होने के कारण यद्यपि जीव ने अनेक वेष धारण किये, फिर भी उसका भ्रम दूर नहीं हुआ ।

जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज ।
तन बिनसें कुल बिनसिहै, गह्यो न रांम जहाज ॥२०॥

झूठे कुल की लज्जा के कारण संसार नरक में अनुरक्त रहा । शरीर के नष्ट होने पर कुल भी नष्ट हो जायगा क्योंकि राम-रूपी जहाज का आश्रय तो ग्रहण किया नहीं, जो बचा दे ।

पष ले बूड़ी पृथमी, झूठी कुल की लार ।
अलष बिसारयो भेष मैं, बूड़े कांली धार ॥२१॥

पक्षपात की भावना लेकर, मिथ्या कुल की लालसा में सारा संसार डूब गया । वेष को महत्ता देकर अलख प्रभु को विस्मृत कर दिया और मँझधार में ही डूब गये।

चतुराई हरि नां मिलै, ए बातां की बात ।
एक निसप्रेही निराधार, का गाहक गोपीनाथ ॥२२॥

सब बातों की बात यह है, कि चतुरता से भगवान प्राप्त नहीं होते । जो आकांक्षा रहित है, प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करता, उसी को गोपीनाथ कृष्ण अपनाते हैं ।

नवसत साजे कांमनी, तन मन रही सँजोइ ।
पीव के मनि भावै नहीं, पटम कीएँ का होइ ॥२३॥

षोडश शृंगार किये हुये स्त्री ने अपना तन और मन सभी सजा रखा है, परन्तु प्रिय के मन को अच्छी नहीं लगती तो शृंगार (रेशमी वस्त्रों के धारण) करने से क्या होगा ?

जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि ।
हथलेया हौंसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछांणि ॥२४॥

जब तक प्रिय से परिचय नहीं होता, तब तक कन्या कुमारी ही रहती है। पाणिग्रहण तो अत्यन्त उत्साह पूर्वक किया जाता है, परन्तु पीछे कठिनता पड़ती है।

कबीर हरि की भगति का, मन मैं परा उल्हास।
मैंवासा भाजै नहीं, हूंण मतैं निज दास ॥२५॥

कबीर कहते हैं, भगवान की भक्ति का मन में बड़ा उल्लास भरा है, परन्तु अन्दर बैठा हुआ चोर तो भागता ही नहीं। भगवान का भक्त अहंकार के वशीभूत हो रहा है। हूंण = अहंकार

मैंवासा मोई किया, दुरिजन काढ़ै दूरि।
राज पियारे रांम का, नगर बस्या भरि पूरि ॥२६॥

अहंकार-रूपी चोर को मार डाला। काम-क्रोधादि दुर्जनों को निकाल कर बाहर किया। अब प्यारे राम का राज्य इस शरीर-रूपी नगर में भली भाँति स्थापित हो गया। मैंवासा=चोर, मैं = अहन्ता—जिसमें वासा = निवास करती है।

२५—कुसंगति कौ अंग

निरमल बूंद अकाश की, पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगति भठ छार ॥१॥

आकाश के निर्मल जल की बूँद पृथ्वी पर पड़कर विकार-ग्रस्त हो गई। इसी प्रकार मानव भी अपने मूल (प्रभु) से पृथक होकर विनष्ट हो गया है और बिना संगति के भट्टी की राख के समान है।

मूरषि संग न कीजिये, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भवंग मुषी, एक बूंद तिहुं भाइ ॥२॥

मूर्ख का साथ मत करो। मूर्ख लोहे के समान है जो जल में तैर नहीं पाता, डूब जाता है। संगति का प्रभाव इतना पड़ता है कि आकाश की एक बूँद केले

पर गिर कर कपूर, सीप के अन्दर गिरकर मोती और सर्प के मुख में पड़कर विष बन जाता है।

हरिजन सेती रूसणां, संसारी सू हेत।
ते नर कदे न नीपजै, ज्यूं कालर का खेत ॥३॥

जो पुरुष भगवान के भक्तों से रुष्ट होते और संसारी पुरुषों से प्रेम करते हैं, वे कभी अभ्युदय को प्राप्त नहीं कर पाते, जैसे बंजर खेत में पड़ा हुआ धान्य कभी नहीं उत्पन्न होता है।

मारी मरूं कुसंग की, केला कांठै बेरि।
वो हालै वो चीरिये, साषित संग निवेरि ॥४॥

मैं कुसंगति की मारी मरी जा रही हूं। केले के समीप बेर का टीला पेड़ है। केला तो प्रेम के कारण बेर की ओर जाने के लिये हिलता है, परन्तु बेर उसे अपने काँटों से चीर देता है। हे प्रभु ! मुझे बेर के समान कंटकित शाक्तों के साथ से दूर रखो। कांठै = समीप।

मेर निसांणीं मीच की, कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्रांणियां, बांणी ब्रह्म सँभाल ॥५॥

हद (सांसारिकता-अज्ञाचक्र तक गमन) मृत्यु चिह्न है; कुसंगति मृत्यु ही है। अतः कबीर कहते हैं, हे प्राणियो ! अपनी वाणी से ब्रह्म का स्मरण करो।

माषी गुड़ में गड़ि रही, पँष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिर धुनैं, मीठैं बोई माइ ॥६॥

मक्खी मोह के कारण गुड़ से चिपट गई। उसके पंख भी उसमें लिपट गये। अब हाथ पीटती है। और शिर धुन कर कहती है:—'माँ' मीठे में तो बुराई भरी पड़ी है।

ऊँचै कुल क्या जनमियाँ, जे करणीं ऊंच न होइ।
सोवन कलस सुरै भरया, सांधूं निंदा सोइ ॥७॥

यदि कार्य उच्च कोटि के नहीं हैं तो उच्च कुल में जन्म लेने से क्या लाभ ? सुवर्ण का कलश यदि सुरा से भरा है तो साधु उसकी निन्दा ही करेंगे।

२६-संगति कौ अंग

देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि ।
बिरला कोई ठांहरै, सतगुर सांमीं मूठि ॥१॥

दूसरों की देखादेखी मनुष्य अध्यात्म-पथ पर चल पड़ता है, परन्तु उससे परिचय न होने के कारण पृथक हो जाता है । सद्गुरु स्वामी के साथ कोई बिरला व्यक्ति ही ठहर पाता है । मूठि = सिरा

देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग ।
बिपति पड्या यूं छाड़सी, ज्यूं कंचुली भवंग ॥२॥

यह भक्ति दूसरों को देख कर की गई है, अतः इस पर कभी रंग नहीं चढ़ सकता । विपत्ति पड़ने पर मनुष्य इसे वैसे ही छोड़ देगा जैसे सर्प केंचुल को छोड़ देता है ।

करिये तौ करि जांणिये, सारीषा सूं संग ।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छांड़ै रंग ॥३॥

यदि कर सकते हो तो समान के साथ सत्संग करो । लोई न जाने कितने जलों की थाह लेती आई, परन्तु उसने अपना रंग न छोड़ा और अपने समानधर्मा कबीर से मिल गई ।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ ।
सिर ऊपरि आरा सहै, तऊ न दूजा होइ ॥४॥

यह मन उसको दो, जो उत्तम और भली भाँति सेवा करने वाला हो; जो सिर के ऊपर आरा रखवा कर चिर जाना सहन करले, फिर भी पृथक न हो ।

पाँहण टांकि न तोलिए, हांडि न कीजै बेह ।
माया राता माँनवी, तिनसूं किसा सनेह ॥५॥

पत्थरों को टाँकी से काटकर मत तौलो । हड्डियों में छेद न करो । जो मनुष्य माया में निरत हैं, उनसे प्रेम कैसा ?

कबीर तासूँ प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि ।
बनिता बिबिध न राचिए, देषत लागे षोडि ॥६॥

कबीर कहते हैं, प्रेम उससे करो जो अन्त तक निर्वाह कर सके । विविध प्रकार की स्त्रियों से अनुराग मत करो । इनको तो देखते ही अपराध लगता है ।

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥७॥

कबीर कहते हैं, शरीर पक्षी बन गया है और जहाँ मन है वहाँ उड़कर पहुँच जाता है । ज. जैसा साथ करता है वह वैसा ही फल प्राप्त कर रहा है ।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार ।
बलिहारी ता दास की, पैसि सिर निकसणहार ॥८॥

यह संसार वैसा ही है जैसी काजल की कोठरी होती है । धन्य है उस भक्त को जो शिर के बल इसमें से निकल जाता है ।

२७—असाध कौ अंग

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध ।
बाहर दीसै साध गति, मांहै महा असाध ॥१॥

कबीर कहते हैं, वेष तो अभ्यागत का बना लिया है, परन्तु कार्य अपराधियों के से करते हो । बाहर से तो साधु दिखाई देते हो, परन्तु अन्दर से महा दुष्ट हो ।

ऊज्जल देखि न धीजिए, बग ज्यूँ माड़ै ध्यान ।
धोरै बैठि चपेट सी, यूँ लै बूड़ै ज्ञान ॥२॥

जैसे श्वेत रंग का बगुला मछली पकड़ने की ताक में ध्यानस्थ रहता है, वैसे ही किसी का उज्ज्वल वेष देखकर विश्वास मत करो । जैसे बगुला निकट बैठकर

ही मछली को दबोच लेता है, इसी प्रकार इस श्वेत वस्त्रधारी का ज्ञान तुम्हें ले डूबेगा।

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आंणि ॥३॥

जितने मीठा बोलने वाले हैं उन सबको साधु मत समझो। ये प्रथम तो थाह दिखा देंगे, फिर लाकर डुबा देंगे।

२८—साध कौ अंग

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ॥१॥

कबीर कहते हैं. साधु पुरुष की संगति कभी निष्फल नहीं होती, चंदन का वृक्ष यदि छोटा भी होगा, तो भी उसे कोई नीम का वृक्ष नहीं कहेगा।

कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमसि दूरि गँवाइसो, देसी सुमति बताइ ॥२॥

कबीर कहते हैं शीघ्र जाकर साधु पुरुष का साथ करो। इससे दुर्मति दूर होगी और सुमति उत्पन्न होगी।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
सांध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥३॥

चाहे मथुरा जाओ चाहे द्वारिका और चाहे जगन्नाथ पुरी। यदि साधु का साथ और भगवान की भक्ति नहीं करोगे तो कहीं से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

मेरे संगी दोइ जणां, एक बिष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम ॥४॥

मेरे साथी दो हैं—एक वैष्णव और दूसरे भगवान। भगवान मुक्तिदाता है और वैष्णव भगवान के नाम का स्मरण कराने वाला है।

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं रांम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम ॥५॥

कबीर कहते हैं, अपने राम को प्राप्त करने के लिए मैं बन-बन में घूमता रहा। परन्तु राम के ही समान जब मुझे राम के भक्त मिल गये तो उन्होंने मेरी सारी कामनायें पूरी कर दीं।

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अँक भरे भरि भेटिया, पाप सरीरौं जांहिं ॥६॥

कबीर कहते हैं, जिस दिन सन्तों के दर्शन हों, वही दिन अच्छा है। संत से अंक भर भेंट करनी चाहिये। उससे शरीर के पाप नष्ट हो जाते हैं।

कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥७॥

कबीर कहते हैं, यदि चंदन का वृक्ष आक और पलाश के पास भी जमा होगा तो जितने वृक्ष उसके पास होंगे, उन सबको वह अपने समान बना लेगा। (कंकोल निम्ब कुटजा अपि चंदना स्युः)। बिड़ा = वृक्ष।

कबीर खाई कोट की, पांणी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ ॥८॥

कबीर कहते हैं, किले की खाई का पानी कोई नहीं पीता। परन्तु जब वही पानी गंगा में जाकर मिल जाता है तो सब गंगाजल बन जाता है।

जांनि बूझि सांचहि तजैं, करैं झूठ सूं नेह।
ताकी संगति रांमजी, सुपिनैं ही जिनि देहु ॥९॥

जो जान बूझ कर सत्य को छोड़ देते हैं और मिथ्या से प्रेम करते हैं, हे भगवान! ऐसे पुरुषों की संगति हमें स्वप्न में भी मत दो।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूं बसै।
नहीं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥१०॥

कबीर कहते हैं, हे भगवान, जिसके हृदय में तू निवास करता है, उसी से हमारी भेंट करा। अन्यथा तू शीघ्र हमें यहाँ से उठाले। यहाँ रहकर प्रति दिन के विनाश को कौन सहन करे।

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ ॥११॥

समुद्र की कितनी लहरें न जाने कहाँ से उत्पन्न होती हैं और कहाँ चली जाती हैं! मैं उस भक्त पर न्यौछावर होता हूँ जो इन लहरों को उलट कर अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। मन की प्रवृत्तियों को उपरामता प्रदान करता है।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहे रांम की ओट ॥१२॥

यह संसार काजल की कोठरी है और इसमें काजल के ही किवाड़ लगे हैं। धन्य है उन भक्तों को जो इस संसार में आकर राम की शरण में रहते हैं।

भगति हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
साषित! काली कांबली, भावै तहां बिछाय ॥१३॥

हे शाक्त! भक्ति हजारी कपड़ा है जिसमें मैल नहीं लग पाता। यह काली कमली के समान है जिसे चाहे जहाँ बिछालो।

२९—साध साषीभूत कौ अंग

निरबैरी निहकांमता, साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥

किसी से शत्रुता न करना, निष्काम रहना, प्रभु से प्रेम करना और विषयों से पृथक रहना-सन्तों का यही स्वभाव है।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा बेठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥२॥

सन्त को चाहे करोड़ों दुष्ट पुरुष मिलें, फिर भी वह अपने साधु-स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यद्यपि चन्दन के वृक्ष में सर्प लिपटे रहते हैं, फिर भी वह अपनी शीतलता नहीं छोड़ता।

कबीर हरि का भांवता, दूरैं थैं दीसंत।
तन षीणां मन उनमनां, जग रूठड़ा फिरंत ॥३॥

कबीर कहते हैं, भगवान का प्यारा दूर से ही दिखलाई दे जाता है। उसका शरीर क्षीण और मन उन्मन (विषयों से उपराम) होता है, तथा वह संसार से रूठा हुआ विरक्त अवस्था में घूमा करता है।

कबीर हरि का भांवता, झीणां पंजर तास।
रैंणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मास ॥४॥

कबीर कहते हैं, जो भगवान का प्यारा है उसका शरीर सूक्ष्म और दुर्बल होता है। रात्रि में उसे नींद नहीं आती तथा शरीर पर मांस नहीं चढ़ता।

अणरता सुख सोवणां, रातैं नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटैं मछली, यूं बेलंत विहाइ ॥५॥

जो प्रेम नहीं करता, वह सुख पूर्वक सोता है, परन्तु प्रेमी पुरुष को नींद नहीं आती। जैसे जल से वियुक्त होकर मछली तड़पती है, इसी प्रकार वह प्रमी भी अपने प्रिय से पृथक होकर व्याकुल अवस्था में जीवन व्यतीत करता है। रातै = अनुरक्त

जिन्य कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी विहाइ।
मैं रे अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥६॥

जो अज्ञानी हैं वे सुख की नींद लेते हैं। मैंने उस अज्ञेय को समझा है, तबसे मेरे ऊपर विपुल आपत्ति आ पड़ी है।

जांण भगत का नित मरण, अण जांणैं का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥७॥

ज्ञानी भक्त सदैव मृत्यु जैसी पीड़ा को अनुभव करता है, परन्तु अज्ञानी सुखी रहता है, क्योंकि उसे भले बुरे का ज्ञान नहीं होता। उसका काम तो केवल अपना पेट भरना है।

जिहि घट जांण बिनांण है, तिहि घटि आवटणां घणां।
बिन षंडै संग्रांम है, नित उठि मन सौं झूझणां ॥८॥

जिसके अन्तस्तल में ज्ञान और विज्ञान निवास करते हैं, वह अत्यन्त संतप्त रहता है, क्योंकि वहाँ निरन्तर संग्राम चला करता है और प्रतिदिन उठते ही मन से जूझना पड़ता है।

रांम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ।
तंबोली के पान ज्यूँ, दिन दिन पीला होइ ॥९॥

राम के वियोग में जिसका शरीर व्याकुल रहता है, उसे कोई नहीं पहिचानता। तँबोली के पान के समान उसका शरीर प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है।

पीलक दौड़ी साइयाँ, लोग कहैं पिंड रोग।
छांनैं लंघण नित करै, रांम पियारे जोग ॥१०॥

हे स्वामी मेरे अन्दर पीड़ा हो रही है, परन्तु मनुष्य समझते हैं कि इसे पिंड (पीलिया) रोग हो गया है, क्योंकि अपने प्रिय प्रभु से संयोग पाने के लिये प्रति-दिन सूने लंघन करने पड़ते हैं।

काम मिलावै रांम कूँ, जे कोई जांणैं राषि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साषि ॥११॥

काम, यदि उसे कोई सुरक्षित रूप से रखना जानता हो तो, राम से मिला देता है। कबीर कहते हैं, मैं ही क्या स्वयं शुकदेव मुनि इसकी साक्षी दे रहे हैं।

कांमणिं अंग बिरकत भया, रत भया हरि नांइ।
साषी गोरख नाथ ज्यूँ, अमर भये कलि मांहिं ॥१२॥

जो कामिनी की काया से विरक्त तथा प्रभु के नाम में अनुरक्त हो गया है, वह कलियुग में अमर हो जाता है, इसके साक्षी गुरु गोरख नाथ हैं।

जदि विषै पियारी प्रीति सूँ, तब अन्तरि हरि नाहिं ।
जब अन्तर हरिजी बसै, तब बिषिया सूँ चित नाहिं ॥१३॥

यदि तुम विषयी हो, संसार के रोचक पदार्थों से प्रेम करते हो, तो तुम्हारे अन्तस्तल में भगवान नहीं रह सकते। और यदि तुम्हारे अन्दर भगवान निवास करते हैं, तब तुम्हारा चित्त विषयों की ओर नहीं जा सकेगा ।

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घटि रांम न जोइ ।
रांम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ ॥१४॥

जिस हृदय में संशय रहता है वहाँ राम दिखाई नहीं देते। राम और उनके स्नेही सेवकों के बीच में संशय तो क्या, तिनके का भी संचार नहीं हो सकता।

स्वारथ कौ सब कोई सगा, जग सगलाही जांणि ।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥१५॥

सारे संसार को ही स्वार्थ का सम्बन्धी और लाभ का साथी समझो। यदि कोई स्वार्थ रहित होकर आदर करता है, तो समझ लो, वह भगवान से प्रेम करता है। संगलाही = लाभ का साथी

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूँ छांनां होइ ।
जतन जतन करि दाबिए, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥

जिस हृदय में भगवान आ गये हैं, वह हृदय शून्य (अंधकार मय) कैसे हो सकता है ? चाहे जितना यत्न करके उसे दबाओ, फिर भी वहाँ प्रकाश होगा ही।

फाटै दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा साइयाँ, सो क्यूँ छाना होइ ॥१७॥

मैं आँखें खोलकर घूमता फिरता हूँ, पर कोई भी मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस घट में मेरा स्वामी निवास करता है, वह शून्य कैसे हो सकता है ?

सब घटि मेरा साइयां, सूनी सेज न कोइ ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घट परगट होइ ॥१८॥

सभी शरीरों में मेरा स्वामी है, कोई भी शैया सूनी नहीं है। परन्तु हे सखी, भाग्यवती वही है जिसके हृदय में वह प्रकट हो जाता है।

पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, ताथैं धूँवा ह्वै ह्वै जाइ ॥१९॥

राम अग्नि के समान घट-घट में समाया हुआ है, परन्तु चित्त रूपी चकमक पत्थर उससे नहीं लग पाता, इसी कारण धुवाँ होकर रह जाता है।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जागै विषयी विष भरया, कै दास बंदगी होइ ॥२०॥

कबीर कहते हैं, इस संसार में केवल इसका स्वामी जागता रहता है, और कोई नहीं जागता। अथवा विषय-वासनाओं के विष से भरा हुआ प्राणी जागता है, या भगवान को प्रणाम करने वाला भक्त जागता है।

कबीर चाल्या जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरा मुझसौं यों कह्या, किनि फुरमाई गाइ ॥२१॥

कबीर कहते हैं, मैं चला जा रहा था कि आगे परमेश्वर मुझे प्राप्त हो गये। इस पर मेरे सद्गुरु ने मुझसे यह कहा कि इस बात को गाकर सच्ची सिद्ध क्यों नहीं करता?

२१—साध महिमा कौ अंग

चंदन की कुटकी भली, ना बंबूर अंबराउं।
वैश्नौं की छपरी भली, नां सापत बड़ गाउं ॥१॥

चंदन का टुकड़ा अच्छा है, बड़े-बड़े बबूर और अमराइयाँ अच्छी नहीं हैं। वैष्णव का छप्पर अच्छा है, शाक्त का बड़ा ग्राम अच्छा नहीं है।

पुर पाटण सूबस बसै, आनँद ठायें ठांइ ।
राम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरे भाइ ॥२॥

पुर और नगर बहुत अच्छी तरह बसे हुए हों, और स्थान-स्थान पर आनन्द हो रहा हो, परन्तु यदि वे राम के प्रेमियों से शून्य हैं, तो मेरी दृष्टि में वे उजाड़ स्थान हैं।

जिहि घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नांहि ।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसैं तिन मांहि ॥३॥

जिस घर में साधु का सम्मान और प्रभु की भक्ति नहीं होती, वे घर श्मशान के समान हैं और उन में भूत-प्रेत रहते हैं।

है गै गैंवर सघन घन, छत्र धजा फहराइ ।
ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ ॥४॥

यदि किसी के पास मेघ के समान गर्जना करने वाले अनेक श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हों, छत्र और ध्वजा फहरा रही हो—फिर भी ऐसे पूर्णसुख साधनों से तो भिक्षा माँगना अच्छा है जिसमें भगवान का स्मरण करते हुए दिन व्यतीत होते हैं।

है गै गैंवर सघन घन, छत्र पती की नारि ।
तास पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥५॥

यदि राजा की स्त्री हो और उसके पास अनेक श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हों, तब भी वह भगवद्भक्त की पानी भरने वाली स्त्री की समता नहीं कर सकती।

क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन ।
वा मांग सँवारै पीव कौं, वा नित उठ सुमिरै रांम ॥६॥

राजा की पत्नी की निन्दा क्यों की जाती है और पनिहारी का मान क्यों किया जाता है? दोनों का अन्तर स्पष्ट है—रानी अपने प्रिय को दिखाने के लिये अपनी माँग सँवारती है; परन्तु पनिहारी प्रतिदिन उठते ही भगवान का स्मरण करती है।

कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया बैस्नौं पूत ।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥७॥

कबीर कहते हैं, वह स्त्री धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है और जो राम का स्मरण करके निर्भय हो गया है। अन्यथा संसार निर्वंश ही चला गया। अऊत = अपुत्र।

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं, कुल तो वही अच्छा है जिसमें भगवान के भक्त उत्पन्न हों। जिस कुल में भगवद्भक्त उत्पन्न नहीं होते, वह कुल आक और पलाश के वृक्षों के समान है।

साषत बांभन मति मिलै, बैश्नौं मिलै चँडाल।
अंक माल दै भेटिये, मांनौं मिले गोपाल ॥९॥

शाक्त चाहे ब्राह्मण ही हो, पर उसका मिलना अच्छा नहीं है। वैष्णव यदि चांडाल भी है, तो उसका मिलना अच्छा है। उसका भुजा भरकर वैसे ही आलिंगन करना चाहिये जैसे साक्षात् भगवान ही मिले हों।

रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छांनि।
ऊंचे मंदिर जालि दै, जहाँ भगति न सारंग पानि ॥१०॥

राम का जाप करते हुए दरिद्रता और घर का टूटा हुआ छप्पर भी श्रेयस्कर है। उन ऊँचे मन्दिरों को जला देना चाहिए, जहाँ भगवान की भक्ति नहीं की जाती।

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ रांम निवास ॥११॥

कबीर इस दोहे में अपने को केतकी और अपने सेवकों को भ्रमर बतलाते हैं, और कहते हैं कि जहाँ कबीर (भक्त) की भक्ति होती है, वहीं राम निवास करते हैं।

३१—मधि कौ अंग

मधि = बौद्धों की मध्यमा प्रतिपदा

कबीर मधि अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै वार ।
दुहु दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार ॥१॥

कबीर कहते हैं, जो मध्य मार्ग से चलता है, उसे पार होने में देर नहीं लगती । परन्तु जो प्राणी इस संसार में दोनों अंगों अर्थात् अतिरेकों से चिपटता है, वह डूब जाता है ।

कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि ।
यहु सीतल, बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥२॥

कबीर कहते हैं, दुबिधा को दूर कर दो और एक अंग होकर लगो अर्थात् मध्यवर्ती एक के साथ चिपट जाओ । दुविधा में संताप है, उसके दोनों सिरे अग्नि कहलाते हैं । एक अंग होकर लगने में शीतलता है ।

अनल अकासां घर किया, मधि निरंतर वास ।
बसुधा ब्यौम बिरकत रहै, विनठा हर विसवास ॥३॥

अनल ने आकाश में घर किया है । अतः तुम निरंतर मध्य में निवास करो । यदि बसुधा व्योम से, मानवता सुरत्व से विरक्त रहती है, तो प्रभु विश्वास नष्ट हो जावेगा ।

वासुरि गमि नां रैणि गमि, नां सुपनैं तरंगम ।
कबीर तहां बिलंबिया, जहाँ छांहड़ी न घम ॥४॥

कबीर कहते हैं, मैंने वहाँ विश्राम किया जहाँ न छाया है और न धूप; जहाँ न दिन पहुँचता है और न रात्रि और न जहाँ स्वप्नों की तरंगें ही हैं ।

जिहि पैंड़ै पंडित गये, दुनिया परी बहीर ।
औघट घाटी गुरु कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर ॥५॥

कबीर कहते हैं, जिस मार्ग से पंडित जाते हैं और संसार जिस मार्ग से बाहर पड़ा रहता है, गुरु ने मुझे वही औघट घाट बता दिया है और मैं उसी पर चढ़ रहा हूँ।

सरग, नरक थैं हूँ रह्या, सतगुरु के परसादि।
चरन कँवल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतिरु आदि ॥६॥

मैं सद्गुरु की कृपा से स्वर्ग और नरक दोनों से बच गया। अब प्रभु के चरण कमलों की लहर में बैठा हुआ मैं आदि से लेकर अन्त तक प्रसन्न रहता हूँ।

हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ मैं कदे न जाइ ॥७॥

हिन्दू राम नाम कहते हुये मर गये और मुसलमान खुदा कहते हुये। कबीर कहते हैं, जीवित वही रहता है जो इन दोनों में कभी सम्मिलित नहीं होता अथवा द्वैत के गड्ढे में नहीं गिरता।

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥८॥

दुखी पुरुष दुख के कारण मरता है और सुखी पुरुष सुख के कारण कष्ट पाता है। परन्तु राम के भक्त सर्वदा आनन्दित रहते हैं, क्योंकि वे सुख और दुख दोनों को ही अपने से अलग रखते हैं।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
रांम सनेही यूं मिले, दून्यूँ बरन गँवाइ ॥९॥

कबीर कहते हैं, हल्दी का रंग पीला (हिन्दू) और चूने का रंग श्वेत (मुसलमान) होता है, परन्तु राम के प्रेमी भक्त दोनों रंगों को दूर करके आपस में मिल जाते हैं।

काबा फिर कासी भया, रांम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥१०॥

(कबीर के प्रभाव से) अब काबा काशी बन गया है और राम रहीम हो चुका है। मोटा चून मैदा हो गया है जिसे कबीर बैठे हुये खा रहे हैं।

धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूँबड़ा अबध ।
षट दरसन संसै पड़या, अरु चौरासी सिध ॥११॥

पृथ्वी और आसमान बीच की तूँबड़ी की दो अवधि अर्थात् सिरे हैं; परन्तु छहों दर्शनकार और चौरासी सिद्ध सबके सब इन्हीं के संशय में पड़े हुए हैं।

३२-सारग्राही कौ अंग

षीर रूप हरि नांव है, नीर आन ब्यौहार ।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जांणनहार ॥१॥

हरि का नाम खीर के समान है और अन्य व्यवहार नीर के समान। हंस रूप कोई साधु ही इनके तत्व को जानता है।

कबीर साषत कोइ नहीं, सबै बैशनों जांणि ।
जा मुखि रांम न उच्चरै, ताही तन की हांणि ॥२॥

कबीर कहते हैं, शाक्त कोई भी नहीं है, सब वैष्णव ही हैं। जिसके मुख से राम नाम का उच्चारण नहीं निकलता, उसी के शरीर की हानि होती है।

कबीर औंगुण नां गहै, गु'ण ही कौं लै बीनि ।
घट घट महु के मधुप ज्यू', पर आतम लै चीन्ह ॥३॥

कबीर कहते हैं, अवगुणों को ग्रहण मत करो, गुणों को ही चुनकर इकट्ठा कर लो। जैसे भ्रमर फूलों के अन्दर छिपे हुये मधु को पहिचान लेता है, वैसे ही घट-घट में रमे हुए परमात्मा को पहिचान लो।

बसुधा बन बहु भांति है, फूल्यौ फल्यौ अगाध ।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, विषम गहै किहि साध ॥४॥

विविध प्रकार का संसार रूपी वन अपार फूलों और फलों से लदा हुआ है। कबीर कहते हैं, इसमें से मीठी सुगंधि को ग्रहण कर लो। विषम अर्थात् कड़वी दुर्गन्धि को किस इच्छा से ग्रहण करते हो?

३३—विचार कौ अंग

रांमनांम सब को कहै, कहिबे बहुत विचार।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिगहार॥१॥

राम का नाम तो सभी लेते हैं, पर उनमें भी विभिन्न विचार रहते हैं। उसी राम का नाम सती की जिह्वा पर होता है और वही तमाशा देखने वालों के भी मुख पर।

आगि कह्यां दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लग भेद न जांणिये, रांम कह्या तो कांइ॥२॥

जब तक अग्नि पर पैर नहीं पड़ता, तब तक अग्नि अग्नि चिल्लाने से मनुष्य जलता नहीं है। इसी प्रकार जब तक राम का रहस्य समझ में नहीं आता, तब तक राम-राम कहने से भी कुछ नहीं होता।

कबीर सोचि विचारिया, दूजा कोई नांहिं।
आपा पर जब चीन्हियां, तब उलटि समाना मांहि॥३॥

कबीर कहते हैं, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि यहाँ आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्वितीय वस्तु कोई भी नहीं है। परन्तु जब मानव अपने आपको (आत्मा को) पहिचान लेता है, तभी वह प्रवृत्ति-पथ से हटकर अपने में समाविष्ट हो पाता है।
उलटि = प्रवृत्ति पथ से हटकर।

कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नांनां बांणी बोलिया, जोति धरी करतारि॥४॥

कबीर कहते हैं, मानव शरीर पानी (वीर्य) का पुतला है और प्राण वायु ने इसे सम्हाल रखा है। यह जो अनेक प्रकार के शब्द बोलता है, वह इसलिये कि सृष्टि कर्ता प्रभु ने इसके अन्दर अपनी ज्योति स्थापित कर रखी है।

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े, जिनि जांणीं भगति मुरारि ॥५॥

कबीर कहते हैं, यहाँ घर-घर के दरवाजे पर नौ मन सूत उलझा पड़ा है। जो भगवान की भक्ति करना जानते हैं, वे ही इसे सुलझा पाते हैं। बारि=द्वार

आधी साषी सिर कटै, जौ रे विचारी जाइ।
मन परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, यदि मेरी साखियों पर विचार किया जाय तो आधी साखी पढ़ने से ही शिर कट जायगा। यदि मन में विश्वास उत्पन्न न हो, तो दिनरात मिल कर गाकर देख लो।

सोई आषिर, सोइ बयन, जन जू जू वाचवन्त।
कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसायन हुन्त ॥७॥

वही अक्षर हैं, वही बचन हैं; परन्तु उनके बोलने वाले पृथक-पृथक हैं। कुछ ऐसे हैं, जो उनमें नमक मिला देते हैं और दूसरे ऐसे हैं जो उनमें अमृतमयी रसायन घोल देते हैं। जू जू=पृथक पृथक। लवणि=नमक। हुन्त=अन्य।

हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि।
जतन करी झंटा घंणां, टूटैगी कहूँ लागि ॥८॥

प्रभु मोतियों की माला है, जो कच्चे तागे में पोई हुई है। यदि इसके साथ यत्न करोगे, जोर लगाओगे तो अनेक झंझट उत्पन्न होंगे और यह कहीं टक्कर खाकर टूट जायगी।

मन नहीं छांड़ै विषै, विषै न छांड़ै मन कौं।
इन कौं इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥९॥

मन विषय-वासना को नहीं छोड़ता और विषय-वासना मन को नहीं छोड़ती। इनका स्वभाव ही ऐसा है। ये दोनों मनुष्य के साथ परिपूर्ण रूप से चिपटे हुए हैं।

खंडित मूल विनास, कहौ किम विगतह कीजै ।
ज्यूं जल में प्रतिविम्व, त्यूं सकल रांमहिं जांणीजै ॥
सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभुवन पति कहूँ कस ।
कहै कबीर ब्यंदहु नरां, ज्यूं जल पूर्या सकल रस ॥

जैसे मूल के नष्ट होने पर वस्तु का विनाश हो जाता है, इसी प्रकार (यदि प्रभु न हो तो) इस ज्ञात संसार का क्या होगा ? जैसे जल में परछाहीं पड़ती है, इसी प्रकार सब भगवान के अन्दर हैं। वही प्रभु मन, तन, विषय सब में समाया हुआ है। वह तीनों लोकों का स्वामी है। उसका वर्णन कैसे किया जाय ? कबीर कहते हैं, हे मनुष्यों, समझ लो। जैसे जल में संपूर्ण रस समाया हुआ है, इसी प्रकार सर्वत्र प्रभु व्याप्त हो रहे हैं।

३४—उपदेस कौ अंग

हरी जी यहै विचारियां, साषी कहौ कबीर ।
भौ सागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥१॥

कबीर कहते हैं, भगवान ने ऐसा ही विचार किया था कि मैं साखी अर्थात् अपने अनुभव की, साक्षात की हुई, बात कहकर सुनाऊँ। संसार रूपी समुद्र में अनेक जीव पड़े हुये हैं, सम्भव है मेरी साखियों के सहारे कोई किनारे को पकड़ ले।

कली काल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ ।
अन बावैं लोहा दांहिणैं, बोवै सु लुणतां होइ ॥२॥

कलियुग में तत्काल फल मिलता है, इसलिये ,किसी को भी कुत्सित कर्म नहीं करना चाहिये। यहाँ बायें हाथ में अन्न तथा दाहिने हाथ में लोहा (फाल आदि) लेकर जो बोया जाता है, वही काटना पड़ता है।

कबीर संसा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ ।
बिधि बिधि बांणीं बोलतां, सो कत गया बिलाइ ॥३॥

कबीर कहते हैं, मुझे जीव के विषय में संशय हो रहा है, कोई भी मुझे समझ कर नहीं बताता। जरा बताओ तो, जो जीव मृत्यु से थोड़ी देर पहले अनेक प्रकार की वाणियाँ बोलता था, वह अब कहाँ विलीन हो गया ?

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम ।
पंच तत्त तत्तहि मिले, सुरति समांनां मंन ॥४॥

कबीर कहते हैं, जन्म तथा मरण को, संशय को दूर कर दो। जिन पाँच तत्वों से शरीर बना था, वे अपने तत्वों में मिल गये और मन आत्मा में समा गया।

गिरही तौ च्यंता घणी, बैरागी तौ भीष ।
दुहु कात्यां बिच जीव है, दौ हनैं संतौ सीष ॥५॥

यदि गृहस्थ में रहते हैं, तो अनेक चिन्तायें सवार रहती हैं और वैरागी बनते हैं, तो भीख माँगनी पड़ती है। बेचारा जीव दो भालों के बीच में पड़ा है। संतों की शिक्षा से ही वह दोनों को मार सकता है।

बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदार ।
दुहूँ चूका रीता पड़ै, ताकूं वार न पार ॥६॥

वैरागी का विरक्त होना अच्छा है और गृहस्थी को चित्त से उदार होना चाहिये। यदि दोनों इन दोनों गुणों से चूकते हैं, शून्य रहते हैं, तो वे न इधर के रहेंगे, न उधर के।

जैसी उपजै पेड़ सूं, तैसी निबहै ओरि ।
पैका पैका जोड़तां, जुड़सी लाष करोड़ि ॥७॥

पेड़ से या प्रारंभ से जैसी वस्तु उत्पन्न होती है, अन्त तक उसका वैसा ही निर्वाह होता है। यदि प्रारम्भ से ही पैसा इकट्ठा किया जायगा, तो लाखों और करोड़ों इकट्ठे हो जायेंगे।

कबीर हरि के नांव सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अन्त न पार ॥८॥

कबीर कहते हैं, यदि भगवान के नाम से लगातार एक समान प्रीति बनी रही, तो मुख से मोती झड़ने लगेंगे और हीरों का तो अन्त या पार ही नहीं मिलेगा।

ऐसी वांणीं बोलिये, मन की आपा खोइ।
अपना मन शीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥९॥

मन के अहंकार को खोकर ऐसे बचन बोलने चाहिये, जो अपने शरीर को शीतल करें और दूसरों को भी सुखदायक हों।

कोइ एक राखै सावधान, चतनि पहरे जागि।
बरत्तन बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ॥१०॥

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो चैतन्य होकर पहरे पर जागते रहते हैं और अपनी सभी वस्तुओं की सावधानी के साथ रक्षा करते हैं। वस्त्र या वर्तनों के जरा सा खिसकने पर ही ये जग पड़ते हैं और इस प्रकार चोर इनके घर में चोरी नहीं कर पाते।

---

३५ बेसास (विश्वास) कौ अंग

जिनि नर हरि जठरांह, उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दियौ ॥१॥
उरध पाँव अरध सीस, बीस पषां इम रषियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चषियौ ॥
इहि भाँति भयानक उद्र में, उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रति पालन क्यों करै ॥

जिस प्रभु ने मनुष्य के पिंड को जठराग्नि में पानी (वीर्य और रज) डाल कर उत्पन्न किया है; जिसने कान, हाथ, पैर बनाये हैं, जिसने प्राणी के मुख में जिह्वा दी है; जिसने ऊपर को पैर और नीचे को शिर करके बीस पक्ष अर्थात दश महीने तक जीव को इस प्रकार गर्भावस्था में रखा है कि जहाँ अन्न पानी आदि सब जला करता है, वहाँ जीव को अग्नि का कुछ भी प्रभाव प्रतीत नहीं होता—इस प्रकार

भयानक उदर की जठराग्नि में रहते हुये भी गर्भस्थ जीव कभी नष्ट नहीं हो पाता। कबीर कहते हैं, कृपालु कृष्ण भगवान इस प्रकार जीव का प्रतिपालन किया करते हैं।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भांडा घड़ि जिन मुख दिया, सोई पूरण जोग ॥२॥

क्या भूखा-भूखा चिल्लाकर लोगों को सुनाता फिरता है ? अरे जिसने शरीर बना कर मुख दिया है, वही पूर्ण और योग्य प्रभु (तेरी भूख दूर करेगा)

भांडा = शरीर ।

रचनहार कूं चींन्हिं लै, खैबे कूं कहा रोइ।
दिल मंदिर मैं पैसि करि, ताणि पछेवड़ा सोइ ॥३॥

अरे प्राणी ! भोजन के लिए क्या रोता है ? अपने निर्माता प्रभु को पहिचान ले और हृदय रूपी मंदिर में प्रवेश करके पिछौरा (चादर) तानकर सो जा।

राँम नाँम छरि बौंहड़ा, बाँही बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥४॥

राम नाम का बौंहड़ा (निमान स्थान का खेत जहाँ बरसात का पानी देर तक ठहरता है) बना ले और उसमें खूब संतुष्ट होकर बीज डाल दे। अन्त समय में यदि सूखा भी पड़ गई, तो भी वह निष्फल तो कभी जा ही नहीं सकता। कुछ न कुछ पैदा हो ही जायगा।

च्यंतामणि मन मैं बसै, सोइ चित्त मैं आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की बाँणि ॥५॥

चिन्तामणि रूपी प्रभु मन में बसते हैं। उन्हीं का चित्त में स्मरण करो। वे प्रभु तुम्हारे बिना सोचे ही तुम्हारी चिन्ता किया करते हैं। उनका यही स्वभाव है।

कबीर का तू चिन्तवै, का तेरा च्यंता होइ।
जण च्यंता हरि जी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, तू क्यों चिन्ता करता है ? क्या तेरा सोचा हुआ सफल होता है ? जिसे तू नहीं सोचता, प्रभु उसी को करते हैं। तू जो सोचता है, वह नहीं होता।

करम करीमाँ लिखि रहया, अब कछू लिख्या न जाइ ।
मासा घटै न तिल वधै, जो कोटिक करै उपाय ॥७॥

उस दयालु प्रभु ने पहले से ही भाग्य की लिपि लिख रखी है। अब कुछ भी नहीं लिखा जा सकता । चाहे करोड़ों उपाय करो, पर जो लिख दिया है, उसमें न मासे भर घट सकता है और न तिल भर बढ़ सकता है ।

जाकौं जेता निरमया, ताकौं तेता होई ।
रंती घटै न तिल वधै, जौ सिर कूटै कोई ॥८॥

प्रभु ने जिसके लिये जितना बना दिया है, उसको उतना ही मिलेगा। चाहे कोई भले ही शरीर कूटता रहे, पर उसमें न तो रत्ती भर घट सकता है और न तिल भर बढ़ सकता है।

च्यन्ता न करु अच्यंत रहु, सांई है संम्रथ ।
पसु पंषेरू जीव जन्त, तिनकी किसा गरत्थ ॥९॥

तू क्यों चिन्ता करता है ? निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर । तेरा स्वामी सब कुछ कर सकने में समर्थ है । देख तो, तेरे अतिरिक्त और भी तो पशु पक्षी आदि जीव जन्तु हैं । उनको खाद्य सामग्री कैसे प्राप्त होती है ? गरत्थ=खाद्य सामग्री ।

सन्त न बाँधे गांठड़ी, पेट समाता लेइ ।
साईं सूं सनमुष रहै, जहाँ मांगै तहां देइ ॥१०॥

सन्त गठरी नहीं बाँधता । उसकी भूख जितने में शान्त हो जाय, उतना ही लेता है। वह सदैव प्रभु के सामने रहता है और जहाँ माँगता है, प्रभु वहीं उसे दे देते हैं।

रांम नांम सूं दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ॥११॥

राम नाम के साथ मेरा हृदय एक हो गया है तथा जनता या संसार के लिये मेरे हृदय में विरक्ति की भावना उत्पन्न हो चुकी है। अपने इष्ट देव का मुझे पूर्ण सहारा है तथा विश्वास है कि यह सेवक नरक में नहीं जायगा । बिराइ = विरक्ति ।

कबीर तूँ काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाख ॥१२॥

कबीर कहते हैं, तू क्यों डरता है जब तेरे शिर पर प्रभु का वरद हस्त रखा हुआ है। हाथों पर चढ़कर कभी विचलित नहीं होना चाहिये, चाहे लाखों कुत्ते भूँकते रहें।

मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज ।
दावा किसही का नहीं, विन विलाइत बड़राज ॥१६

साधुजन जिन रोटियों को माँग कर खाते हैं, वे शक्कर के समान मीठी होती हैं, क्योंकि उनमें अनेक प्रकार का धान्य सम्मिलत होता है। विलायत के बिना ही सन्त निर्भय होकर अपने बड़े राज्य में विचरण करते हैं।

मांनि महातम प्रेम रस, गरवा तण गुण नेह ।
ए सबहीं अहला गया, जबहिं कह्या कुछ देह ॥१४॥

मान, माहात्म्य, प्रेम–रस गौरव गुण तथा स्नेह सब बाढ़ में बह जाते हैं जब मनुष्य किसी से कुछ देने के लिये कहता है।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं मति रे मंगावै मोइ ॥१५॥

याचना करना मृत्यु के समान है। इससे बिरले प्राणी ही बच पाते हैं। कबीर भगवान से कहते हैं कि हे प्रभु, तू मुझसे याचना मत कर।

पांडल पंजर, मन भंवर, अरथ अनूपम बास ।
रांम नांम सींच्यां अमीं, फल लागा वेसास ॥१६॥

यह शरीर गुलाब का फूल है, मन भ्रमर है और भाव तथा विचार ही अनुपम सुगंध है। राम-नाम रूपी अमृत से सींचा गया है और विश्वास रूपी फल इस पर लगा है।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास ।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥१७॥

सीमा या मेरा पन नष्ट हो जाने से मैं मुक्त हो गया हूँ। प्रभु का विश्वास मुझे प्राप्त हो गया है। अब मेरे अन्दर द्वैत की भावना नहीं रही, केवल एक प्रभु की आशा रह गई है। मेंड़ = सीमा या मेर = मेरापन।

जाकी दिल में हरि बसै, सो नर कलपै कांइ ।
एकै लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाइ ॥१८॥

जिसके हृदय में प्रभु निवास करते हैं, वह मनुष्य क्यों दुखी होता है ? समुद्र की (प्रभु की कृपा) एक ही लहर में उसका दुख-दारिद्र्य सब नष्ट हो जायगा ।

पद गाये लै लीन ह्वै, कटी न संसय पास ।
सबै पिछोड़े थोथरे, एक निनां बेसास ॥१९॥

पदों को लवलीन होकर गाया, पर संशय के पाश न कट सके । एक प्रभु के विश्वास के बिना सब आच्छादन व्यर्थ हैं ।

गांवण ही मैं रोज है, रोवण ही मैं राग ।
इक वैरागी ग्रिह मैं, इक गृही मैं वैराग ॥२०॥

गाने में ही रुदन भरा पड़ा है और रुदन ही में गाना । एक गृहस्थ होता हुआ भी वैरागी है और एक वैरागी होता हुआ भी गृहस्थी में पड़ा है ।

गाया तिनि पाया नहीं, अणगाया थै दूरि ।
जिनि गाया बिसवास सूं, तिन रांम रह्या भरपूरि ॥२१॥

जिन्होंने प्रभु की गुणावली का गान किया उनको भी प्रभु प्राप्त नहीं हुआ और जिन्होंने उसका गान नहीं किया उनसे तो वह दूर था ही । पर जिन्होंने विश्वासपूर्वक प्रभु के गीत गाये उनके अन्दर प्रभु परिपूर्ण रूप से व्याप्त हो गये ।

---

३६ पीव पिछांणन कौ अंग

(प्रिय की पहिचान)

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ ।
सकल माँड मैं रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ ॥१॥

जो संपुट, डिबिया (या मन्दिर) में ही समाया हुआ है, वह ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर तो वही कहा जा सकता है जो समस्त ब्रह्माण्ड में रमण कर रहा है।

रहै निराला मांड थै, सकल मांड ता मांहिं।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहिं ॥२॥

जो ब्रह्माण्ड से भी निराला [परे] रहता है तथा समस्त ब्रह्माण्ड जिसके अन्दर स्थित है, कबीर उसी प्रभु की सेवा करता है, किसी दूसरे की नहीं।

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया विभिचार।
सतगुरू गुरू बताइया, पूरविला भरतार ॥३॥

पति की भूलाभूली (विस्मृति तथा अनजान) में तूने बहुत व्यभिचार किया है। अब तो सद्गुरु ने तेरे पूर्व जन्म के पति को गुरु रूप में बता दिया है।

जाकै मुह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप वास थें पातला, ऐसा तत्त अनूप ॥४॥

जिसके न मुख है, न मस्तक है, न कोई रूप है; जो पुष्प की सुगन्धि से भी पतला है—ऐसा वह अनुपम तत्व परमात्मा है।

३७—बिर्कताई (विरक्ति) कौ अंग

मेरे मन में पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटक पषांण ज्यूं, मिल्या न दूजी वार ॥१॥

संसार से मेरा मन फट गया है और उसमें ऐसी दरार पड़ गई है जैसे स्फटिक पत्थर के फट जाने पर पड़ जाती है। और जो दूसरी बार मिलाने से मिलती।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।
जौं परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ॥२॥

बुरे वचनों से मन फट गया और सब सम्बन्ध तथा विश्वास वैसे ही नष्ट हो गये जैसे तिवास का दूध पड़ने से आक भी उखड़ जाता है।

चंदन भागां गुध करै, जैसे चोली पन।
दोइ जन भागां नां मिलैं, मुकताहल अरू मन ॥३॥

चंदन के टुकड़े करो तो भी वह सुगंध रूपी गुण देता है जैसे वस्त्र पर नाक्रप चढ़ाने से रंग अच्छा आता है। पर मोती और मन दो ऐसी वस्तुयें हैं जो विभ हो जाने पर नहीं मिलती।

पाहि विनग कापड़ा, कदे सुरांग न होई।
कबीर त्यागा ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ ॥४॥

पास चढ़ाने पर ही यदि कपड़ा बिगड़ गया तो वह कभी सुन्दर रंग का नहीं हो सकता। कबीर ने इसी कारण ज्ञानपूर्वक कनक और कामिनी दोनों को छोड़ दिया।

चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत्य न देखै मंत।
कत कत की सालि पाड़िये, गलबल सहर अनन्त ॥५॥

चित्त चैतन्य आत्मा में ऐसा लीन हो गया है कि वह अब होश में आकर मन के विषयों की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता। कबीर कहते हैं, शहर में तो अपार गड़बड़ है; तुम किस-किस का प्रबन्ध करोगे ?

जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नांव ज्यूं, घणे मिलेंगे आइ ॥६॥

जो जाता है उसे जाने दो; तुम अपनी दशा को मत जाने दो। यदि तुम अपने स्वरूप में अवस्थित रहे, तो केवट की नाव की भाँति अनेक व्यक्ति तुमसे आकर मिलेंगे।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर ! घर घर वारि।
जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवेगा झष मारि ॥७॥

अरे समुद्र ! तू घर-घर दरवाजे पर पानी पिलाता क्यों घूम रहा है ? जो प्यासा होगा, वह झख मार कर तेरे पास पानी पीने के लिये आवेगा।

सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक ।
रांम अमलि माता रहै, गिणै इन्द्र कौं रंक ॥८॥

सौ गाँठों से गठी कोपीन को धारण करके भी साधु किसी से शंकित और भयभीत नहीं होता है । राम के नशे में मतवाला बना हुआ वह इंद्र को भी गरीब ही समझता है ।

दावै दाझण होत है, निरदावै निःसंक ।
जे नर निरदावै रहै, ते गिणै इंद्र कौं रंक ॥९॥

अधीनता में जलन है और स्वाधीनता में निडरता है । जो मनुष्य स्वाधीन रहते हैं, वे इंद्र को भी अपने सामने गरीब समझते हैं ।

कबीर सब जग हंडिया, मंदिल कंधि चढाइ ।
हरि बिन अपना को नहीं, देखे ठोंकि बजाइ ॥१०॥

कबीर कहते हैं, मंदिर की मूर्तियों को कंधे पर चढ़ा कर मैंने सारा संसार ढूँढ़ डाला और सबको ठोंक बजा कर देख लिया, पर प्रभु के बिना अपना कोई भी दिखाई नहीं दिया ।

३८—समर्थाई कौ अंग

नां कुछ किया न करि सक्या, तां करणें जोग शरीर ।
जे कुछ किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर ॥१॥

न मैं कुछ कर सका हूँ और न किया ही है । मेरा शरीर भी कुछ करने के याग्य नहीं है । जो कुछ किया है वह सब भगवान का किया हुआ है इसी भाव से कबीर कबीर बन सका है ।

कबीर किया कछू न होत है, अन कीया सब होइ ।
जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥२॥

कबीर कहते हैं, अपने करने से कुछ नहीं होता। अपने न करने से ही सब कुछ होता है। और यदि करने से कुछ हुआ भी है तो उसका करने वाला भी कोई और ही है, मैं नहीं।

जिसहि न कोई तिसहि तू, जिस तू तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी साइयाँ, नांम हरू मन होइ ॥३॥

हे प्रभु, जिसका कोई नहीं, उसका तू है और जिसका तू है, उसका सब कोई है। हे स्वामी, तेरे दरबार में नाम का जाप मेरे मन को आकर्षित करने वाला हो जाता है।

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ ॥४॥

एक (भक्त) खड़े ही (कुछ न करते हुए भी) सब कुछ प्राप्त करते हैं और एक [जो भक्त नहीं हैं] खड़े-खड़े विलाप करते हैं। मेरा स्वामी सुन्दर लक्षणों से युक्त है जो मुझे सोते से जगा देता है।

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥५॥

सातों समुद्रों को स्याही, वनस्पतियों को लेखनी और पृथ्वी को कागज का रूप देकर हरि के गुण लिखने बैठूँ, तब भी वे नहीं लिखे जा सकते।

अबरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥६॥

जो अवर्ण अथवा वर्ण रहित है, उसका क्या वर्णन किया जाय। मैं तो उसे देख भी नहीं सकता। अपने-अपने रूप में उसका वर्णन करके सब थक गये।

झल बांवै, झल दाहिनै, झलहि माँहि व्यौहार।
आगे पीछे झलमई, राखै सिरजणहार ॥७॥

बाईं ओर अग्नि है, दाहिनी ओर अग्नि है, आगे और पीछे अग्नि है, अग्नि के अन्दर झुलसता हुआ मानव अपना समस्त व्यवहार कर रहा है। इस अग्नि के अन्दर रक्षा करने वाला सृष्टि का रचयिता परमेश्वर ही है।

साईं मेरा बाँणियाँ, सहजि करै व्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ै, तौले सब संसार ॥८॥

मेरा प्रभु वणिक के रूप में है जो सहजावस्था रूपी व्यापार कर रहा है। वह बिना ही डंडी और पलड़ों के अर्थात् तराजू के बिना सारे संसार को तौल रहा है।

कबीर वारया नांव परि, कीया राई लूंण।
जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण ॥९॥

कबीर कहते हैं, मैं तो प्रभु के नाम पर न्यौछावर होता हूँ और उसके ऊपर राई नमक उतारता हूँ [जिससे भूल न जाऊँ], परन्तु जिसको प्रभु मार्ग पर चलाते हैं उसे कौन भुला सकता है ?

कबीर करणीं क्या करै, जे रांम न करै सहाय।
जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाय ॥१०॥

कबीर कहते हैं, कर्म क्या करेंगे यदि भगवान ही सहायक नहीं हैं। मनुष्य जिस-जिस डाली पर पैर रखता है, प्रभु की सहायता के बिना, वही झुक-झुक जाती है।

जदि का माइ जनमियाँ, कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौं, पातौं पातौं दुख ॥११॥

मालूम नहीं, किस माँ ने मुझे जन्म दिया था जिससे कहीं भी मुझे सुख प्राप्त नहीं हुआ। मैं डाली-डाली पर घूमा और पत्ते-पत्ते पर मुझे दुख मिला।

साईं सूं सब होत है, बन्दे थैं कुछ नाहिं।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥१२॥

ईश्वर ही सब कुछ कर सकते हैं, सेवक कुछ नहीं कर सकता। वह चाहें तो राई को पर्वत बना दें और पर्वत को राई कर दें।

३९-कुसबद को अंग

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥१॥

सेल की नोंक यदि शरीर में भिदती है तो वह अपेक्षाकृत सरल और सुखदायिनी है, क्योंकि उसके भिदने पर मनुष्य साँस तो लेता है; पर जो शब्द की चोट को सहन कर सके उस गुरु का तो मैं दास बनने को तैयार हूँ।

खूंदन तो धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तो हरिजन सहै, दूजैं सह्या न जाइ ॥२॥

पृथ्वी पैरों के द्वारा खूँदी जाती है, पर वह सब सहन करती है। बनस्पतियों से भरे जंगल में बाढ़ आ जाती है तो वह जंगल भी उसे सहन करता ही है। इसी प्रकार भगवान का भक्त कुत्सित शब्दों [गालियों] को सहन करता है। दूसरा कोई भी व्यक्ति उन्हें सहन नहीं कर सकता।

सीतलता तब जांणिये, समिता रहै समाइ।
पष छांड़ै, निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥३॥

शीतलता का संचार हो गया है, ऐसा तब समझना चाहिये जब समत्व की भावना अन्दर समाविष्ट हो जाय, जब पक्षपात छोड़ कर साधक निष्पक्ष भाव को ग्रहण करले और शब्दों को दूषित न करे।

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि वैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ॥४॥

कबीर कहते हैं, मेरे अन्दर शीतलता आ गई, ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है और जिस अग्नि से सारा संसार जलता था, वह मेरे लिये पानी के समान बन गई है।

४०—सबद कौ अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति ।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथैं छूटि भरंति ॥१॥

कबीर कहते हैं, शरीर में शब्द (अनहद नाद) है जिससे बिना ही गुण (रस्सी और ताँत) के बीणा बज रही है। यह शब्द बाहर-भीतर सर्वत्र भरा हुआ है जिससे भ्रांति छूट जाती है। तंती = तंत्री, बीणा। भरंति = भ्रांति।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार ।
सतगुरु के प्रसाद थैं, सहज शील मत-सार ॥२॥

शब्द-भेद के भली भाँति विचार करने में सती और संतोषी सावधान रहते हैं और वे सद्गुरु की कृपा से स्वाभाविक शील की अवस्था को प्राप्त कर लेते है जो सब धर्मों का सार है।

सत गुरु ऐसा चाहिये, जैसा सकलीगर होइ ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥३॥

सद्गुरु को सिकलीगर की भाँति होना चाहिये जो अपने शब्द रूपी शान रखने वाले यंत्र पर घुमा घुमा कर शरीर को दर्पण की भाँति चमका दे।

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक ।
लागत ही मैं मिल गया, पड्या कलेजे छेक ॥४॥

सद्गुरु सच्चा शूरवीर है। वह एक शब्द रूपी बाण चलता है जो लगते ही अन्दर विद्ध हो जाता है, और कलेजे में छेद कर देता है।

हरिरस जे जन बेधिया, सतगुण सींगणि नाहिं ।
लागी चोट सरीर में, करक कलेजे माहिं ॥५॥

सतोगुण रूपी कमान पर चढ़ा कर मारे गये हरि-रस रूपी बाण से जो प्राणी विद्ध हो चुके हैं उनके शरीर में चोट लगी है, परन्तु उसकी पीड़ा कलेजे के अन्दर हो रही हैं। सींगणि-कमान। नाहिं-नद्ध करना, चढ़ाना।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलूं, त्यूं त्यूं लागै तीर ।
सांठी सांठी झड़ि पड़ी, भलका रह्या सरीर ॥६॥

ज्यों-ज्यों मैं भगवान के गुणों का स्मरण करता हूँ त्यों-त्यों बाण लगता जाता है। इस बाँण के लगने से उसके ऊपर का लकड़ी का भाग तो गिर जाता है, परन्तु भलका (तीर का नुकीला लोहे का भाग) शरीर में ही रह जाता।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर ।
लागे थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥७॥

ज्यों-ज्यों में भगवान के गुणों का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों बाण लगता जाता है फिर भी बाण के लगने से में विचलित नहीं होता, क्योंकि मेरा प्रभु मुझे सहन शक्ति देने वाला है।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और ।
लागि चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥८॥

शब्द की चोट क्या लगी, कबीर उसी स्थान पर पड़ा रह गया। उस चोट के लगने से हथियार अलग पड़ा चिल्ला रहा है और पीड़ा दूसरी ओर पड़ी रो रही है। जिसके लगी है, वह गुमसुम पड़ा है।

४१—जीवन मृतक कौ अंग

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस ।
तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास ॥१॥

भगवान का जो भक्त जीवित होते हुए भी मृतक के समान रहता है और संसार की आशाओं को छोड़ देता है, तब वह अपने आप भगवान की सेवा में निरत रहता है और कभी दुख प्राप्त नहीं करता।

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंड़े लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर ॥२॥

कबीर कहते हैं, मेरा मन मर चुका है और शरीर दुर्बल हो गया है। अब भगवान कबीर-कबीर पुकारते हुए मार्ग में मेरे साथ लगे फिरते हैं। पैंड़े=मार्ग।

कबीर मरि मड़हट रह्या, तब कोई न बूझै सार।
हरि आ८र आगै लिया, ज्यूं गऊ बछ की लार ॥३॥

कबीर कहते हैं, जब मनुष्य अपने आप को मार कर श्मशान भूमि में पहुँचा देता है, तब संसारी पुरुष उसे सार को (अपने स्वार्थसाधन को) वस्तु नहीं समझते। परन्तु भगवान आगे आकर आदरपूर्वक उसे ग्रहण करते हैं जैसे गौ अपने बछड़े के लिए लालायित होकर आगे बढ़ती है। =लालसा।

घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचम्भा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ ॥४॥

यदि मैं इस (सांसारिक) घर को जलाता हूँ, तो मेरा पारमार्थिक घर बचता है, और यदि इसे रखता हूँ तो वह हाथ से जाता है। मैंने यह एक आश्चर्य देखा है कि मरा हुआ व्यक्ति (जिसका अहंकार मर चुका है), काल को खा रहा है।

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनाँ होइ ॥५॥

मरते-मरते तो सारा संसार मरता चला जाता है; पर समय पड़ने पर कोई भी नहीं मर सका। कबीर कहते हैं, मरना है तो ऐसे मरो जिससे फिर न मरना पड़े।

वैद मुवा, रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा, जिनि के राम अधार ॥६॥

वैद्य मर गये, रोगी मर गये और सारा संसार मर गया। कबीर कहते हैं, एक मैं ही नहीं मरा जिसने राम का आश्रय ग्रहण कर रखा था।

मन मर्‌या, ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥७॥

मन को मार डाला। ममता भी समाप्त हो गई। अहँकार सब नष्ट हो गया। जो योगी था वह यहाँ से चला गया। अब आसन पर उसकी भभूत (भस्म) पड़ी रह गई है अर्थात संसार में केवल उसका यश ही रह गया है।

जीवन थैं मरिवौ भलौ, जो मरि जानैं कोइ।
मरनैं पहली जे मरैं, तौ कलि अजरावर होइ ॥८॥

जीवन से मरण अच्छा है, यदि कोई वास्तव में मरना जानता हो। मृत्यु आने के पूर्व ही जो अपने आपको मार डालते हैं, वे इस कलियुग में अजर-अमर हो जाते हैं।

खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ।
रांम कसौटी सो टिकै, जो जीवत मृतक होइ ॥९॥

भगवान पक्की कसौटी है जिस पर कसने से खोटा सोना कभी ठहर नहीं सकता। इस कसौटी पर तो वे ही खरे उतरते हैं जो जीवित अवस्था में ही अपने आपको मार डालते हैं।

आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाय।
अकथ कहांणीं प्रेम की, कह्यां न को पत्याइ ॥१०॥

अपने आपको मिटाने से भगवान मिलते हैं, परन्तु भगवान को मिटाने से सब कुछ नष्ट हो जाता है। प्रेम की कहानी कुछ ऐसी ही अकथनीय है कि यदि उसे किसी को सुनाओ तो कोई उस पर विश्वास नहीं करता।

निगु सांवां बहि जाइगा, जाके थाघी नहीं कोइ।
दीन गरीबी बन्दिगी, कारतां होइ सो होइ ॥११॥

जिसका कोई भी सहायक नहीं है, उसका समस्त धान्य बह जायगा। परन्तु जो दीन होकर भी अपनी गरीबी में प्रार्थना करता रहता है, वह बच जाता है। निगु=सब। साँवां=धान्य। थाघी=सहायक।

दीन गरीबी दीन कौं, दूंदर कौं अभिमान।
दूंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी रांम ॥१२॥

दीन पुरुषों को भगवान ने नम्रता दी है और धनवान को अभिमान। धनवान का हृदय विष से भरा रहा है, पर दीन और नम्र के लिये तो भगवान ही एकमात्र आश्रय है। दूंदर=धनी।

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं ह्वै रह्या, ज्यूं पांऊं तलि घास ॥१३॥

कबीर कहते हैं, मैं तो सन्तों का अनुचर हूँ और दासों का भी दास हूँ। मैं तो इस प्रकार रहता हूँ जैसे पैरों के नीचे घास रहती है।

रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलैं भगवान ॥१४॥

पाखंड और अभिमान छोड़ कर, रास्ते की कंकड़ी रूप बनो (जिस पर सबके पैर पड़ते हैं)। जो मनुष्य इस प्रकार रहता है, उसे भगवान प्राप्त होते हैं।

४२—चित कपटी कौ अंग

कबीर तहां न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जालूं कली कनेर की, तन रातौ मन सेत ॥१॥

कबीर कहते हैं, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये जहाँ कपट से भरा हुआ प्रेम हो। कनेर की उस कली को जला देना ही अच्छा है जिसका शरीर (ऊपर का भाग) तो लाल है, पर मन (अन्दर का भाग) श्वेत है।

संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ।
दुराचारी वैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ ॥२॥

जो शाक्त गृहस्थ होकर भी कुमारी (ब्रह्मचारिणी) के भाव से रहता है, वह अच्छा है। परन्तु जो वैष्णव होकर भी दुराचारी है, वह बुरा है। भगवान का भक्त वहाँ नहीं जा सकता।

निरमल हरि का नांव सौं, कै निरमल सुध भाइ।
कै लै दूणी कालिमा, भावै सौ मण साबण लाइ ॥३॥

भगवान के निर्मल नाम का जाप करके अपना भाव सरल और निर्मल बना लो; नहीं तो दूनी कालिमा चढ़ेगी। फिर इसे चाहे सौ मन साबुन से मिटाओ, तो भी वह नहीं मिटेगी।

४३-गुरु सिष हेरा कौ अंग

[गुरु शिष्य की खोज]

ऐसा कोइ नां मिलै, हमकौं दे उपदेस।
भौ सागर में डूबतां, कर गहि काढ़ै केस ॥१॥

कोई ऐसा गुरु हमें नहीं मिलता जो उपदेश दे और भवसागर में डूबे हुए हम को अपने हाथों द्वारा केश पकड़ कर निकाल ले।

ऐसा कोइ नां मिलै, हमकौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करै, लै उतारै मैदान ॥२॥

ऐसा कोई नहीं मिलता जो हमें पहिचान ले और अपना कर ऐसी कृपा करे कि हमें समुद्र से निकाल कर मैदान में उतार दे।

ऐसा कोइ नां मिलै, रांम भगति का मीत ।
तन मन सौंपै मृग ज्यूं, सुनै बधिक का गीत ॥३॥

राम की भक्ति करने वाला ऐसा कोई मित्र (शिष्य) नहीं मिलता जो मृग के समान अपना तन और मन समर्पित करके बधिक के गीत को सुने ।

ऐसा कोइ नां मिलै, अपना घर देई जराइ ।
पंचू लरिका पटिक करि, रहै रांम ल्यौ लाइ ॥४॥

ऐसा कोई (शिष्य) नहीं मिलता जो अपना घर जला दे, काम, क्रोधादि पाँच पुत्रों को पटक कर मार डाले और भगवान में अपना ध्यान लगाये रहे ।

ऐसा कोई नाँ मिलै, जासौं रहिये लागि ।
सब जग जलता देखिये, अपणीं अपणीं आगि ॥५॥

ऐसा कोई (गुरू) नहीं मिलता । जिसका अंचल पकड़ कर रह सकें । सारा संसार अपनी अग्नि में जलता दिखाई दे रहा है ।

ऐसा कोई नां मिलै, जासूं कहूं निसंक ।
जासूं हिरदै की कहूं, सो फिर माँडै कंक ॥६॥

ऐसा कोई (गुरू) नहीं मिलताजिससे निःशंक होकर अपनी बात कहूँ । जिससे अपने हृदय की बात कहता हूँ वह फिर झगड़ा खड़ा कर देता है । कंक = झगड़ा ।

ऐसा कोई ना मिलै, सब विधि देइ बताइ ।
सुन्न मंडल में पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥७॥

ऐसा कोई गुरू नहीं मिलता जो समस्त विधियों को बता दे और शून्य मंडल में जो एक पुरुष विशेष है उससे लौ लगाये रहे ।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाँह ।
ऐसा कोई नाँ मिलै, पकड़ि छुड़ावै बाँह ॥८॥

यदि अपनी ओर देखते हैं तो संसार नष्ट होता है और संसार की ओर देखते हैं तो अपने आप नष्ट होते हैं । ऐसा कोई गुरु नहीं मिलता जो हमको हमारे और इस संसार के सम्बन्ध से छुड़ा दे ।

तीनि सनेही बहु मिलै, चौथे मिले न कोइ ।
सबै पियारे रांम के, बैठे परबसि होइ ॥९॥

तीन ही स्नेही (सुत, वित्त, नारी) अधिक मिलते हैं; अन्य चौथा कोई भी नहीं मिलता । राम के सभी प्रेमी पराधीन होकर बैठे हुए हैं।

माया मिलै महोबन्ती, कूड़ै आखै बैन ।
कोइ घायल बेध्या नां मिलै, साईं हदा सैंण ॥१०॥

धनवन्ती माया तो मिल जाती है जो बुरे बचन कहती है; परन्तु प्रभु के निशाने से बींधा हुआ कोई घायल साधक नहीं मिलता । कूड़े = बुरे । आखै = कहती है । हंदा । = हदफ, निशाना ।

सारा सूरा बहु मिलै, घाइल मिलै न कोइ,
घाइल ही घाइल मिलै, तब रांम भगत दिढ़ होइ ॥११॥

हाथ में हथियार धारण करने वाले, दूसरों को मारने वाले, शूरवीर तो बहुत मिलते हैं; पर हथियारों से घायल हुआ कोई व्यक्ति नहीं मिलता। जब घायल को घायल व्यक्ति मिलता है, तब प्रभु की भक्ति दृढ़ होती है । सार = हथियार ।

प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ ।
प्रेमी कौ प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥२॥

मैं प्रेमी पुरुष को खोजता फिरता हूँ, मुझे कोई भी प्रेमी पुरुष नहीं मिलता । जब प्रेमी को प्रेमी मिलता है तो समस्त विष अमृत बन जाता है ।

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि ।
अब घर जालौं तास का, जे चलैं हमारे साथि ॥३॥

हाथ में मशाल लेकर हमने अपना घर तो जला ही दिया है; अब जो हमारे साथ चलेगा, उसका घर भी जला देंगे। मुराड़ा = मशाल।

४४—हेत प्रीति सनेह कौ अंग

कमोदनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही को भावता, सो ताही के पास ॥१॥

कमोदनी तालाब में रहती है और चंद्रमा आकाश में निवास करता है। फिर भी जो जिसका प्रेमी है, वह दूर होते हुये भी उसके पास ही रहता है।

कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समंदा तीर।
बिसरया नाहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥२॥

कबीर कहते हैं, मेरे गुरु (स्वामी रामानन्द) बनारस में रहते हैं और मैं शिष्य (इस समय) समुद्र के किनारे जगन्नाथ पुरी में रहता हूँ। यदि अपने अन्दर गुण हैं, तो कोई कितना ही विस्मृत करना चाहे, नहीं कर सकता।

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छाड़ि न जाइ ॥३॥

जो जिसका प्रेमी है, वह कभी न कभी आकर मिल ही जायगा। जिसको तन और मन समर्पित किया गया है, वह कभी छोड़ा नहीं जा सकता।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाइ ॥४॥

स्वामी और सेवक का एक मत होता है। दोनों अन्दर मन में मिले होते हैं। स्वामी सेवक की चतुरता से नहीं, मन के भाव से प्रसन्न होता है।

४५-सूरा तन कौ अंग

काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि ।
भरम भलका दूरि करि, सुमिरन सेल संबाहि ॥१॥

हे शूर ! कायर बनने से छुटकारा नहीं होगा; शरीर पर कुछ सहन करना ही होगा । तू भ्रम रूपी भाले को दूर कर दे और स्मरण रूपी सेल को सम्हाल ले ।

षूणैं पड़्या न छूटियो, सुणिरे जीव अबूझ ।
कबीर मरि मैंदान मैं, करि इन्द्रियाँ सूं झूझ ॥२॥

ओ अज्ञान जीव ! सुनो, (युद्ध में) हत्या करने से मुक्ति नहीं होगी। मरना है तो इस संसार रूपी मैदान में इन्द्रियों से युद्ध करते हुये मरो ।

कबीर सोई सूरिवां, मन सूं मांडै झूझ ।
पंच पयादा पाड़िलै, दूरि करै सब दूज ॥३॥

कबीर कहते हैं, शूर वही है जो मन से युद्ध करता है और जो काम, क्रोधादि पांच पयादों को वश में करके समस्त द्वैत भावना को नष्ट कर देता है ।

सूरा झूझै गिरद सूं, इक दिसि सूर न होइ ।
कबीर यौं बिन सूरिवां, भला न कहिसी कोइ ॥४॥

कबीर कहते हैं, यदि शूरवीर धूलि के साथ युद्ध करता है तो एक ओर की शूर-वीरता अपनी कोई सत्ता नहीं रखती । दूसरी ओर तो युद्ध करने वाला शूर-वीर है ही नहीं । इस प्रकार दूसरी ओर के शूर के अभाव में एक ओर शूर को कोई भी अच्छा नहीं कहता ।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछे रहै सु सूर ।
साईं सूं सांचा भया, रहसी सदा हजूर ॥५॥

कबीर कहते हैं, इस संसार रूपी जंगल में प्रवेश करके जो पीछे रहता है, वही शूरवीर है । ऐसा व्यक्ति भगवान के सामने सच्चा रहता है और सदैव उनके दरबार में आनन्द प्राप्त करता है ।

गगन दमांमा बाजिया, पड़्या निसांनै घाव ।
खेत बुहारया सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव ॥६॥

आकाश में दुन्दुभि बज रही है और ढोल पर चोट पड़ रही है, क्योंकि आज शूरवीर ने रण-क्षेत्र में सफाया कर दिया है जिसे देखकर मेरे अन्दर भी मरने का उत्साह उत्पन्न हो रहा है ।

कबीर मेरै संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत ।
कांम क्रोध सूं झूंझणां, चौड़े मांड्या खेत ॥७॥

कबीर कहते हैं, मेरे अन्दर कोई संशय नहीं रहा । मेरा प्रेम भगवान से लगा है । मेरा रणक्षेत्र बाहर खुले मैदान में है जहाँ मैं काम और क्रोध से युद्ध करता हूँ ।

सूर सार सँबाहिया, पहरह्या सहज सँजोग ।
अब कै ग्यांन गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग ॥८॥

शूरवीर ने आज हथियार सम्हाल लिये हैं । सहज संयोग अर्थात् स्वाभाविक अवस्था का कवच धारण कर लिया है । अब की बार ज्ञान रूपी हाथी पर चढ़कर उसके रणक्षेत्र में कूद पड़ने का योग उपस्थित हो गया है ।

सूरा तब ही परषिये, लड़ै धणीं के हेत ।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छांड़ौ खेत ॥९॥

शूरवीर की परीक्षा तभी होती है जब वह धनी अर्थात् ईश्वर के लिए युद्ध करता है । इस युद्ध में भले ही उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, परन्तु फिर वह रणक्षेत्र को नहीं छोड़ता ।

खेत न छांड़ै सूरिवां, झूझै द्वै दल मांहि ।
आसा जीवन मरण की, मन में आंणै नाहिं ॥१०॥

शूरवीर द्वैत के दल में युद्ध करता है, परन्तु रणक्षेत्र से हटने का नाम नहीं लेता । वह अपने मन में जीने और मरने की अभिलाषा भी नहीं लाता ।

अब तौ झूझ्यां ही बणै, मुड़ि चाल्यां घर दूरि ।
सिर साहिब कौं सौंपतां, सोच न कीजै सूर ॥११॥

अब तो युद्ध करना ही अच्छा है। उससे विरत होकर भागोगे तो कहाँ छिपोगे ? घर तो बहुत दूर है। हे शूर, भगवान को शिर समर्पण करने में चिन्ता मत करो।

अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, मनकारू चित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह ॥१२॥

अब तो ऐसी अवस्था आ गई है कि सती होने का तूने चित्त में निश्चय कर लिया है। जब हाथ पर सिंधौरा (सौभाग्यसूचक पदार्थ) रख लिया, तो अब मरने क्या डरती है ?

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरि हूँ कब देखिहूँ, पूरन परमानन्द ॥१३॥

जिस मरण से संसार भयभीत होता है, वह मेरे लिए आनन्ददायक है। मैं चाहता हूँ कि कब मरूँ और कब पूर्ण परमानन्द-रूप प्रभु के दर्शन करूँ।

कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोलै सूर।
काम पड़्यां ही जांणिये, किसके मुख पर नूर ॥१४॥

कायर मनुष्य बहुत बकवाद करते हैं, परन्तु शूरवीर कदापि बहकी बातें नहीं करता। प्रकाश किसके मुख पर है, यह तो काम पड़ने पर ही ज्ञात होता है।

जाइ पूछौ उस घाइलौं, दिबस पीड़ निस जाग।
बांहणहारा जाणि है, कै जांणै जिस लाग ॥१५॥

जाओ और उस घायल से पूछो जो दिन भर पीड़ा से त्रसित रहता है और रात भर जागरण करता है। उसकी पीड़ा को या तो बाण मारने वाला जानता है या वह जिसके कभी वह बाण लगा है।

घाइल घूमैं गहि भरया, राखा रहै न ओट।
जतन कियां जीवै नहीं, बड़ी मरम की चोट ॥१६॥

घायल प्राणी गह (गला)भरकर, पीड़ा के कारण कण्ठावरुद्ध अवस्था में,घूम रहा है। किसी का भी सहारा लेकर रहना नहीं चाहता। उसकी चोट मर्मस्थल पर इतनी गहरी है कि वह यत्न करने पर भी जीवित रहना नहीं चाहता।

ऊँचा बिरष अकासि फल, पंषी मूए झूरि ।
बहुत सयाने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ॥१७॥

ऊँचे वृक्ष पर आकाश में फल लगा है। पक्षी इसे प्राप्त करने चले, परन्तु रेतीले मैदान में ही मर गये। और भी बड़े-बड़े प्रवीण पुरुष आये, परन्तु थक कर बैठ गये। निर्मल फल की प्राप्ति उनसे दूर ही रही।

दूरि भया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ ।
जब लगि सिर सौंपै नहीं, कारिज सिधि न होइ ॥१८॥

यदि इस फल की सिद्धि दूर है, तो क्या हुआ ? वह सिद्धि शिर समर्पित कर देने पर निकट आ जाती है। जब तक साधक शिर समर्पित नहीं करता, तब तक उसका कार्य सिद्ध नहीं होता।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहिं ॥१९॥

कबीर कहते हैं, यह प्रेम का घर है; मौसी का घर नहीं है। जो शिर उतार कर हाथ पर रख लेता है, वह इस घर में प्रवेश करता है।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥२०॥

कबीर कहते हैं, भगवान के प्रेम का घर जिस मार्ग द्वारा प्राप्त होता है, वह अगम्य और अगाध है। जब साधक शिर उतार कर पैरों के नीचे रख लेता है, तब उसे निकट ही प्रेम का स्वाद प्राप्त हो जाता है।

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥

प्रेम न तो खेत में उत्पन्न होता है और न बाजार में बिकता है। राजा या प्रजा जिसकी इच्छा हो वह शिर दे, तब इसे प्राप्त कर सकेगा।

सीस काटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावै सो आइ ल्यौ, प्रेम हाटि हम कीन्ह ॥२२॥

आज हमने प्रेम का बाजार लगाया है। जिसकी इच्छा हो, इसे आकर मोल ले। इसके मूल्य में प्राण तो बराबर तोल में देने पड़ेंगे और शिर काट कर पासंग में देना पड़ेगा।

सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगे थैं हरि मुलकिया, आवत देखा दास ॥२३॥

शूर-वीर ने अपना शिर उतार दिया और शरीर की आशा छोड़ दी। भगवान ने जब ऐसे सेवक को आते देखा, तो वे उसके आगे ही दिखाई पड़ने लगे।

मुलकना—दिखाई देना।

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नांम ॥२४॥

भगवान की भक्ति करना कायर का काम नहीं है, यह बड़ी कठिन है। जो शिर उतार कर हाथ पर रख लेता है, वह हरि का नाम ले सकता है।

भगति दुहेली राम की, जस खांड़े की धार।
जे डोलैं तौ कटि पड़ैं, नहीं तौ उतरै पार ॥२५॥

राम की भक्ति वैसी ही कठिन है जैसी खाड़े की तीक्ष्ण धार। यदि जरा सा भी विचलित हुये, तो कटकर दो टुकड़े हो जाते हैं और यदि विचलित न हुये तो संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

भगति दुहेली राम की, जैसि अगिन की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिग हार ॥२६॥

राम की भक्ति वैसी ही कठिन है जैसी अग्नि की ज्वाला। जो इसमें कूद पड़े, वे तो बच गये, पर जो तमाशा देखने वाले बने, वे जल गये।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यांन खड्ग गहिं काल सिरि, भली मचाई मार ॥२७॥

कबीर कहते हैं, प्रेम के घोड़े पर जब चेतन आत्मा सवार होकर बैठ जाता है, तो वह ज्ञान-रूपी खड्ग हाथ में लेकर मृत्यु के शिर पर खूब चोटें मारता है।

कबीर हीरा बणजिया, महँगे मोल अपार ।
हाड़ गला, माटी गली, सिर साटै व्यौहार ॥२८॥

कबीर कहते हैं, मैंने अत्यन्त महँगे मूल्य में हीरे का व्यापार किया है। इस व्यापार में मेरे हाड़ गल गये, मिट्टी अर्थात् शरीर गल गया और व्यवहार में शिर का मूल्य देना पड़ा। साटै = सट्टा = मूल्य ।

जेते तारे रैणि के, तेतै बैरी मुझ ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ॥२९॥

रात्रि में जितने तारे हैं, उतने ही मेरे शत्रु हैं। मेरा धड़ चाहे शूली पर और शिर कँगूरे पर लटका हो, तब भी, हे प्रभु ! मैं तुझे विस्मृत न करूँगा ।

जौ हारया तौ हरि सवाँ, जौ जीत्या तौ डाव ।
पारब्रह्म कूं सेवतां, जे सिर जाइ तौ जाव ॥३०॥

परब्रह्म की सेवा में यदि मेरा शिर भी चला जाय तो कोई चिन्ता नहीं। इस खेल में यदि मैं हारता हूँ तो हरि के समान बनता हूँ और विजयी होता हूँ तो दाव मेरे हाथ में है ही।

सिर साटै हरि सेविये, छाड़ि जीव की बांणि ।
जे सिर दीयां हरि मिलै, तब लगि हांणि न जांणि ॥३१॥

जीवित रहने की प्रवृत्ति छोड़ कर और अपना शिर देकर भी भगवान की सेवा करो। यदि शिर देने से हरि मिल जाते हैं, तो इसमें कुछ भी हानि नहीं है।

टूटी बरत अकास थैं, कोइ न सकै झड़ झेल ।
साध सती अरु सूर का, अंणी ऊपिला खेल ॥३२॥

साधु, सती और शूर-वीर सदैव नोंक के ऊपर खेल खेलते हैं। जैसे नट आकाश में मोटो रस्सो बाँधकर उसके ऊपर से चलता है, यदि वह रस्सी टूट पड़े, तो उससे लगने वालो चोट को कोई सहन नहीं कर सकता।

सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत मसांन ।
लोक बटाऊ चलि गये, हम तुम रहे निदांन ॥३३॥

चिता में जलती हुई सती कहती है :—'हे मित्र श्मशान ! सुनो—जितने राहगीर थे, वे तो सब चले गये, अब अन्त में केवल हम और तुम ही रह गये हैं।

सती विचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ ।
ले सूती पिव आपणां, चहुँ दिसि अगनि लगाइ ॥३४॥

चिता पर अपनी काष्ठ की शैया बिछा कर सती ने अपने सत्य का परिचय दिया। वह चारों दिशाओं से अग्नि लगा कर अपने पति के साथ उस शैया पर सो गई ।

सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घांण ।
दिया महौला पीव कूं, तब मड़हट करै वषांण ॥३५॥

सती और शूर-वीर अपने शरीर पर कष्टों को सहते हुए जब अपने तन और मन की घानी बना डालते हैं और फिर उससे मह्वैरी बना कर प्रिय को समर्पित करते हैं, तब श्मशान भूमि उनकी कीर्ति का गान करती है ।

सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमरि सनेह ।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह ॥३६॥

सती अपने प्रिय के प्रेम का स्मरण करके जलने के लिए निकली । प्रिय का शब्द कान में पड़ते ही उसके प्राण निकल गये और शरीर की सुध-बुध विस्मृत हो गई ।

सती जलन कूं नीकली, चित धरि एकवमेख ।
तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख ॥३७॥

चित्त में अपने प्रिय के साथ एकत्व का अनुभव करती हुई सती जलने के लिये निकली । उसने अपना तन और मन प्रिय को समर्पित कर दिया। तब अन्तस्तल में द्वैत की कोई भी रेखा अवशिष्ट नहीं रही ।

हौं तोहिं पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ ।
मूंवा पीछैं सत करै, जीवत क्यूं न कराइ ॥३८॥

कबीर अपना मत प्रतिपादित करते है :—हे सखी ! मैं तुझसे पूछता हूँ। जब तेरा पति जीवित था, तभी तू पति सेवा में अहंकार को मार कर क्यों न मर

गई, अब उसके मरने के पश्चात् तू सती होने चली है। उसके जीवित रहते ही सती क्यों न हो गई ?

कबीर प्रगट रांम कहि, छांणैं रांम न गाइ।
फूस क जौड़ा दूरि करि, ज्यू' वहुरि न लागै लाइ ॥३९॥

कबीर कहते हैं, प्रकट रूप से राम का जाप करो, एकान्त या निर्जन में नहीं। फूस के बने हुए इस छप्पर को नष्ट कर दो जिससे फिर इसमें अग्नि न लगे।

लाइ = अग्नि।

कबीर हरि सब कू' भजै, हरि कू' भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥४०॥

कबीर कहते हैं, भगवान सबका ध्यान रखते हैं, पर भगवान का ध्यान कोई नहीं करता। जब तक मनुष्य शरीर की चिन्ता में लगा है, तब तक वह भगवान का सेवक नहीं हो सकता।

आप सवारथ मेदनीं, भगति सवारथ दास।
कबिरा राम सवारथी, जिनि छांड़ी तन की आस ॥४१॥

सारी पृथ्वी (के प्राणी) अपने स्वार्थ में रत हैं। प्रभु का सेवक भक्ति का स्वार्थ रखता है। कबीर राम का स्वार्थी है, जिसने अपने शरीर की चिन्ता करना छोड़ दिया है।

४६—काल कौ अंग

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥१॥

कबीर कहते हैं, अरे जीव ! तू झूठे सुख को सुख कहता है और मन में प्रसन्न हो रहा है। देख, यह सारा संसार मृत्यु के लिये चबैना के समान है जो कुछ तो उसके मुख में है और कुछ गोद में खाने के लिये रखा है।

आजक काल्हिक निस हमें, मारगि माल्हंतां ।
काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यन्तां ॥२॥

मृत्यु बाज है, मनुष्य चिड़िया है जिसे वह अचानक ही झड़प कर पकड़ लेता है। आज या कल किसी न किसी समय अविवेक की अंधेरी रात में हमें भी वह मृत्यु रूपी बाज मार्ग में आकर पकड़ लेगा।

निस = अंधेरी रात, अज्ञान। सिचांणां = बाज। चिड़ा = पक्षी।

काल सिहाड़ै यों खड़ा, जागि पियारे म्यन्त ।
रांम सनेही बाहिरा, तू क्यों सोवै नच्यन्त ॥३॥

प्रिय मित्र, जग जाओ। काल तुम्हारे सिरहाने खड़ा है। राम के प्रेमियों से भी तुम दूर रहते हो। फिर निश्चिन्त होकर कैसे सो रहे हो ?

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद ।
काल खड़ा, सिर ऊपरैं, ज्यौं तोरणि आया बींद ॥४॥

सारा संसार निद्रा से खर्राटे भर रहा है, पर सन्त को निद्रा नहीं आती। वह समझता है कि मृत्यु शिर के ऊपर खड़ी है, जैसे सुसज्जित द्वार पर राजा आया हुआ हो। बींद—इंद्र, राजा।

आज कहै हरि काल्हि भजौंगो, काल्हि कहै फिरि काल्हि ।
आज ही काल्हि करंतड़ा, औसर जासी चालि ॥५॥

आज कहता है कि कल भगवान का भजन कर लूँगा और जब कल आता है तो फिर कहता है कि कल (दूसरे दिन) भजन कर लूँगा। इसी प्रकार आज और कल करते-करते सारा समय निकला जाता है।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज ।
काल अच्यन्ता झड़पसी, ज्यूं तीतर को बाज ॥६॥

कबीर कहते हैं, पल भर की तो याद नहीं, फिर भी कल के लिये सामान इकट्ठा किया जा रहा है। काल अचानक ही आकर झड़प लेगा, जैसे बाज तीतर को झड़प लेता है।

कबीर टग टग चोघताँ, पल पल गई बिहाइ ।
जीव जँजाल न छोड़ई, जम दिया दमाँमाँ आइ ॥७॥

कबीर कहते हैं, कण-कण चुगते हुये, एक-एक पल करके सारी आयु व्यतीत हो गई। जीव इस जंजाल को छोड़ ही नहीं पाता कि यमराज आकर अपना डंका बजा देता है !

मैं अकेला, ए दोइ जणां, छेतीं नाहीं कांइ ।
जे जम आगैं ऊबरौं, तो जुरा पहूँती आइ ॥८॥

मैं अकेला हूँ और ये दो हैं। किसी से भी मैं बच नहीं पाता। यदि यमराज के आगे से बच भी जाता हूँ तो वृद्धावस्था आ पहुँचती है (और मुझे मार डालती है)।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत ।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै निंत ॥९॥

प्रिय मित्र, सबके सब अपनी-अपनी बारी से चले गये, इस संसार से प्रयाण कर गये। रे प्राण ! अब तेरी भी बारी प्रतिदिन निकट आती जाती है।

दौं की दाधी लाकड़ी, ठाड़ी करै पुकार ।
मति बसि पड़ौं लुहार कै, जालै दूजीवार ॥१०॥

दावाग्नि में जली हुई लकड़ी खड़ी होकर पुकारती है, हे भगवान ! अब मैं लुहार के वश (हाथ) में न पड़ूँ क्योंकि वह दूसरी बार मुझे जलावेगा।

जो ऊग्या सो आंथवैं, फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहिं पड़ै, जो आया सो जाइ ॥११॥

जो उदय हुआ है, वह अस्त होगा। जो विकसित हुआ है, वह मुरझा जायगा। जो चुना गया है, वह गिर पड़ेगा। जो आया है, वह जायगा।
[जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवंजन्म मृतस्यच] गीता।

जो पहरया सो फाटिसी, नांव धरया सो जाइ ।
कबीर सोइ तत्त गहि, जो गुरु दिया बताइ ॥१२॥

जो पहना गया है, वह फट जायगा। जो नाम रखा गया है, वह नष्ट हो जायगा। अतः कबीर कहते हैं, जो तत्व गुरु ने बता दिया है, उसी को ग्रहण कर लो।

निधड़क बैठा राम विन, चेत न करे पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥१६॥

भगवद्भक्ति से विहीन होकर तू निश्चित क्यों बैठा है? चैतन्य होकर तू प्रभु को क्यों नहीं पुकारता? यह शरीर जल के बबूले के समान है, जिसके नष्ट होने में देर नहीं लगेगी।

पांणीं केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिना छिप जांहिंगे, तारे ज्यूं परभाति ॥१४॥

जैसे पानी का बबूला (क्षण स्थायी) है, इसी प्रकार से हमारे शरीर हैं। जैसे प्रभात होते ही तारे छिप जाते हैं, वैसे ही ये भी एक दिन नष्ट हो जायँगे।

कबीर यहु जग कछु नहीं, षिन षारा षिन मींठ।
कालिह जु बैठ्या माड़ियां, आज मसांणां दीठ ॥१५॥

कबीर कहते हैं, यह संसार कुछ नहीं, असार है। यह क्षण भर में खारा और क्षण भर में मीठा हो जाता है। कल जो मनुष्य मंडप के नीचे बैठा था, वही आज श्मशान भूमि में दिखाई दे रहा है। माड़ियाँ = मण्डप।

कबीर मंदिर आपणैं, नित उठि करती आलि।
मड़हट देष्यां डरपती, चौड़े दीन्ही जालि ॥१६॥

कबीर कहते हैं, जो प्राणी अपने घर में प्रतिदिन उठकर क्रीड़ा किया करता था, मरघट या श्मशान भूमि को देखकर जिसे डर लगता था, आज वही (उसका शरीर) चौड़े मैदान में जला दिया गया। आलि = क्रीड़ा।

मांदिर मांहि झबूकती, दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ॥१७॥

शरीर रूपी मंदिर में जो प्राण दीपक की ज्योति के समान चमकता था, आज वह प्राण रूपी हंस (प्राण अपान = सोहं उसका विपर्यय से हंस) पथिक के रूप में चला गया। (जो शरीर निर्जीव पड़ा है, उसके छूने से भी दोष लगता है।) अतः घर की इस छूत को निकालो।

ऊंचा मंदिर धौलहर, मांटी चित्री पौलि।
एक रांम के नांव बिन, जम पाड़ेगा रौलि ॥१८॥

बहुत ऊँचे धौराहर (धवल गृह) जैसे भवन हैं। उनकी ड्योढ़ी पर मिट्टी के अनेक चित्र बनाये गये हैं। परन्तु वहाँ भी एक राम का नाम न लेने से यमराज के आने पर रुदन और कोलाहल मच जाता है।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नां जांणौं कहां मारिसी, कै घर कै परदेस ॥१९॥

कबीर कहते हैं, क्या गर्व करता है? काल अपने हाथों में तेरे केश पकड़े हुए है। मालूम नहीं, वह घर में या परदेश में, कहाँ तुझे मार डाले।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावण हार ॥२०॥

कबीर कहते हैं, यंत्र नहीं बजता। उसके सब तार टूट गये हैं। यंत्र वेचारा कर ही क्या सकता है, जब बजाने वाले ही चले गये। जंत्र = शरीर।

धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार।
अहरणि रह्या ठमूंकड़ा, जब उठ चले लुहार ॥२१॥

धौंकने वाली धौंकनी (फेफड़े) यहीं पड़ी रह गई। अंगार (प्राण शक्ति) बुझ गये। निहाई (शरीर या कर्मभूमि) अपने स्थान पर रखी रह जाती है, जब लुहार (आत्मा) उठकर चल देता है। अहरणि = निहाई।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बांध्या पूठि।
मरणम मुह आगै खड़ा, जीवण का सब झूठ ॥२२॥

पथिक मार्ग की गली में खड़ा है। उसकी पीठ पर गठरी बँधी हुई है। मृत्यु मुख के आगे खड़ी है। जीवन वास्तव में मिथ्या है। सिरि = सेरी = गली।

यहु जिव आया दूर थैं, अजौं भी जासी दूरि।
बिच के बासै रमि रह्या, काल रह्या सर पूरि ॥२३॥

यह आत्मा बहुत दूर से आया है और अभी इसे बहुत दूर जाना है। मार्ग के मध्य में यह इस निवास स्थान में रम रहा है; परन्तु काल इसके शिर के ऊपर खड़ा है।

रांम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पहूँती आइ।
मंदिर लागै द्वार थैं, तब कुछ काढणां न जाइ ॥२४॥

जिन्हें करना था, उन्होंने राम जाप कर लिया। अबतो वृद्धावस्था आ पहुँची है। मंदिर का द्वार बन्द हो चुका है। अब कुछ भी निकाला नहीं जा सकता। (वृद्धावस्था में प्राण शक्ति के शिथिल हो जाने से मानव अपने विकारों को दूर करने में असमर्थ हो जाता है।)

बरियां बीती बल गया, बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, कर छिटकयां कत ठौर ॥२५॥

समय निकल गया। बल नष्ट हो गया। दूसरा रंग आ गया। अब चाहे जितना हाथ पटको, बिगड़ी बात बनने वाली नहीं है।

बरियां बीती, बल गया, अरु बुरा कमाया।
हरि जिन छोड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया ॥२६॥

समय निकल गया। बल नष्ट हो गया। कमाई भी बुरी की है। अब भगवान को हाथ से मत जाने दो, क्योंकि मृत्यु का समय निकट आ रहा है।

कबीर हरि सूं हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बांध्या द्वार षटीक कै, ता पसु किती एक आव ॥२७॥

कबीर कहते हैं, भगवान से प्रेम करो। बुरे कार्यों में चित्त को मत लगाओ। जो पशु खटीक के द्वार पर बँधा है, उसकी आयु कितनी हो सकती है? आव = आयु।

विष के बन में घर किया, सरप रहे लपटाइ ।
ताथैं जियरै डर गह्या, जागत रैंणि बिहाइ ॥२८॥

मैंने विष के बन में घर बनाया जिसे चारों ओर से सर्प घेरे हुए हैं। इसी कारण मेरे हृदय में डर लग रहा है और समस्त रात्रि जागते हुए व्यतीत होती है।

कबीर सब सुख राम है, और दुखां की रासि ।
सुर, नर मुनियर, असुर सब, पड़े कालि की पासि ॥२९॥

कबीर कहते हैं, एक राम ही सब सुखों के भाण्डार हैं। अन्य सब दुख की राशि हैं। सुर, नर, मुनि, असुर, आदि सभी काल के पाश में जकड़े हुए हैं।

काची काया, मन अथिर, थिरथिर कांम करंत ।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हसंत ॥३०॥

शरीर कच्चा अर्थात विनश्वर है, मन चंचल है; परन्तु तुम स्थिर भाव से अर्थात इन्हें अविनाशी और नित्य समझ कर कार्य करते हो। मनुष्य जितना निश्चिन्त होकर घूमता है, काल उतना ही उसके ऊपर हँसता है।

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार ।
हाहा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार ॥३१॥

रोने वाले, जलाने वाले, हाहा करने वाले—सभी तो मर गये। फिर मैं किसको पुकारूँ ?

जिनि हम जाये ते मुए, हम भी चालणहार ।
जे हमकौं आगै मिले, तिन भी बांध्या भार ॥३२॥

जिन्होंने हमें उत्पन्न किया, वे हमारे माता पिता भी मर गये। हम भी दुनियाँ से चलने वाले हैं। जो हमारी सन्तति हमारे सामने ही हम से मिली है वह भी अपना बोझ (गठरी) बाँधे, जाने की तैयारी में है।

४७-सजीवनि कौ अंग

जहां जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलि कबीर तिहि देसड़ै, जहाँ बैद विधाता होइ ॥१॥

कबीर कहते हैं, उस देश को चलो जहाँ स्वयं भगवान वैद्य बने हुए हैं, जहाँ वृद्धावस्था और मृत्यु नहीं है और जहाँ कोई भी प्राणी मरा नहीं सुना गया ।

कबीर जोगी बन बस्या, षणि खाये कँद मूल ।
नां जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भये असथूल ॥२॥

कबीर कहते हैं, योगी बन में रहता है और कंद मूल खोदकर खा लेता है । मालूम नहीं, वह कौन सी जड़ी बूटी है, जिसे खाकर ये अविचल योगी अमर हो जाते हैं ।

कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि ।
गगन मँडल आंसण किया, काल गया शिर कूटि ॥३॥

कबीर कहते हैं, मैं माया मोह से पृथक होकर भगवान के चरणों में पहुँचा और गगन मंडल (शून्य, सहस्रदल कमल) में आसन लगाकर बैठ गया । इसे देखकर मृत्यु अपना शिर कूटती रह गई ।

यहु मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै, पीछैं काल न खाइ ॥४॥

कबीर कहते हैं, इस मन को पटककर मार डालो, अपने वश में कर लो, जिससे अहंकार लँगड़ा (अशक्त) होकर प्रिय-प्रिय की रट लगाने लगे । यदि ऐसा हो गया हो, तो फिर मृत्यु तुम्हें खा नहीं सकेगी ।

कबीर मन तीषा किया, बिरह लाइ खर सांण ।
चित चणूँ मैं चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पांण ॥५॥

कबीर कहते हैं, मैंने बिरह की प्रखर सान पर रखकर मन को तीक्ष्ण बना लिया है। वह तीक्ष्ण चित्त प्रभु के चरणों में जाकर ऐसा चुभा है कि अब वहाँ मृत्यु का हाथ नहीं पहुँच सकता।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया, गहर फल, पंषी केलि करंत ॥६॥

कबीर कहते हैं, ऐसे वृक्ष के नीचे विश्राम करो जो बारहों महीने फल देता रहता है, जिसकी छाया शीतल है, फल सघन हैं और जहाँ पक्षी क्रीड़ा करते हैं।

दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवन्त।
पंषी चले दिसावरां, बिरवा सुफल फलंत ॥७॥

दाता रूपी श्रेष्ठ वृक्ष है। उस पर दया रुपी फल लगा है। उपकार करने वाले सदैव जीवित रहते हैं। इस वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी देश-देशान्तरों को चले गये, पर वृक्ष अब तक सुन्दर फल दे रहा है।

४८—अपारिष कौ अंग

पांइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड़या बगां कै साथि ॥१॥

कबीर कहते हैं, जो व्यक्ति वस्तुओं की परख नहीं जानता, वह रत्न आदि उत्तम पदार्थों को पैरों से ठुकरा देता है और कंकड़ों को हाथ में ले लेता है। यह वैसा ही है, जैसे हंस अपनी जोड़ी से पृथक होकर बगुलों के साथ मिल गया हो।

एक अचम्भा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परिषनहारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ॥२॥

कबीर कहते हैं, कितने आश्चर्य की बात है कि हीरा बाजार में बिक रहा है। उसके परखने वाले ग्राहक बाजार से बाहर हैं। इसलिये वह हीरा कौड़ी के बदले में मोल लिया जा रहा है।

कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ।
खोटा बाँध्या गाँठड़ी, इब कुछ लिया न जाइ ॥३॥

कबीर कहते हैं, गुदड़ी में बाँधी हुई वस्तुयें बिखर गईं और सारा सौदा बिक गया। गठरी में मैंने खोटी चीजें बाँधी थीं, इसलिए अब कुछ भी मोल नहीं लया जा सकता।'

पैंड़ैं मोती बीखर्या, अंधा निकस्या आइ।
जोति बिना जगदीश की, जगत उलंघ्या जाइ ॥४॥

रास्ते में मोती बिखरे पड़े थे। कोई अंधा उधर से आ निकला। परन्तु प्रभु की ज्योति उसे प्राप्त नहीं थी, अतः संसार को लाँघता चला गया, पर मोती प्राप्त न कर सका।

कबीर यहु जग अंधला, जैसे अंधी गाइ।
बच्छा था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ ॥५॥

कबीर कहते हैं, यह संसार वैसा ही अंधा है, जैसे वह गाय अंधी होती है, जिसका बछड़ा तो मर जाता है, फिर भी वह खड़ी-खड़ी उसके चमड़े को चाटा करती है।

४९—पारिष कौ अंग

पारिष = परीक्षक, परखने वाला।

जब गुण कूं गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौं गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ ॥१॥

जब गुण का परखने वाला ग्राहक मिल जाता है, तो वह गुण लाखों दामों में बिकता है; परन्तु जब ऐसा ग्राहक नहीं मिलता, तब गुण कौड़ी के बदले में चला जाता है ।

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ ।
बगुला मंझ न जांणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

कबीर कहते हैं, समुद्र की लहर में मोती आकर बिखर गये । बगुला उनके मंझ (बंझ = व्यापार) या (मंझ = मध्य अन्तर) भेद को नहीं जानता; परन्तु हंस उन्हें चुन-चुन कर खा रहा है ।

हरि हीरा, जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि ।
जबरे मिलैगा पारिषू, तब हीरा की साटि ॥३॥

हरि रूपी हीरा को ले लेकर भक्तजन रूपी जौहरी पुरुषों ने बाजार सजा रखा है । कबीर कहते हैं, इस हीरे का मूल्य तो तभी आँका जा सकेगा, जब इसका परखने वाला मिलेगा ।

५०—उपजणि कौ अंग

नांव न जांणैं गाँव का, मारगि लागा जांऊं ।
काल्हि जु काटां भाजिसी, पहिरी क्यूं न खड़ांऊं ॥१॥

जहाँ मुझे पहुँचना है, उस ग्राम का नाम मुझे ज्ञात नहीं, फिर भी मार्ग में चला जाता हूँ । कल काँटे भी चुभ गये थे, फिर भी मैंने खड़ाऊँ क्यों न पहिन लिये ?

सीष भई संसार थैं, चले जु साईं पास ।
अविनासी मोहिं ले चल्या, पुरई मेरी आस ॥२॥

संसार से ही यह शिक्षा प्राप्त हुई, जो हम स्वामी के पास चल दिये। अविनाशी प्रभु मुझे यहाँ से लेकर चले और मेरी आशा पूर्ण करदी।

इन्द्र लोक अचरज भया, ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीर चल्या राम पै, कौतिगहार अपार ॥३॥

कबीर आज राम के पास जा रहा है। तमाशा देखने वाले बहुतेरे हैं। इंद्र लोक में भी इस बात पर आश्चर्य हो रहा है और ब्रह्मा भी सोच विचार में पड़ा है।

ऊंचा चढ़ि असमान कूं, मेर ऊलंघे ऊड़ि।
पसु पंखेरू जीव जंत, सब रहे मेर में बूड़ि ॥४॥

कबीर ऊँचे आसमान पर चढ़कर और उड़ कर सीमा (मेंड़-हद) का उल्लंघन कर गये। अन्य सभी पशु-पक्षी आदि जीव-जन्तु सीमा में डूबे हुए हैं।

सद पांणी पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
वासी पावस पड़ि मुए, विषै बिलंबै जीव ॥५॥

कबीर पाताल का ताजा पानी निकाल कर पी रहे हैं। अन्य प्राणी जो विषयों में फँसे हुए हैं, वर्षा ऋतु के बासो पानी में पड़ कर मर रहे हैं।

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंखि न मींचौं डरपता, मति सुपिना ह्वै जाइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, भगवान मुझे स्वप्न में मिले और मुझे सोते से जगा दिया। अब मुझे आँखें बन्द करने में डर लगता है कि कहीं यह बात भी स्वप्न न हो जाय।

गोविंद के गुण बहुत हैं, लिखे जो हिरदे मांहिं।
डरता पांणीं नां पीऊं, मति वे धोये जांहि ॥७॥

भगवान के अनंत गुण हैं, जो मेरे हृदय पर अंकित हैं। मैं डर कर पानी भी नहीं पीता, जिससे वे कहीं उस पानी द्वारा धुल न जावें।

कबीर अब तौ ऐसा भया, निरमोलिक निज नाउं ।
पहले काच कथीर था, फिरता ठांवैं ठांउ ॥८॥

कबीर कहते हैं, अब तो मेरी ऐसी अवस्था है, जिसमें मेरा नाम अमूल्य हो गया है। पहले तो मैं काँच और कथीर के समान (अकिंचन) और स्थान-स्थान पर (विविध योनियों में) घूमा करता था।

भौ समंद विष जल भर्‌या, मन नहिं बांधै धीर।
सबल सनेही हरि मिले, तब उतरे पार कबीर ॥९॥

संसार रूपी समुद्र विषाक्त जल से भरा हुआ था, जिसे देख कर मन से धैर्य छूटा जाता था; परन्तु मार्ग में अत्यन्त बलवान स्नेही भगवान मिल गये, जिनकी सहायता से कबीर इस समुद्र से पार हो गये।

भला सुहेला ऊतर्‌या, पूरा मेरा भाग।
राम नांव नौका गह्या, तब पांणी पंक न लाग ॥१०॥

मेरा भाग्य पूर्ण था, जिससे मैं भली भाँति सुख पूर्वक पार हो गया। मैंने राम नाम की नाव पकड़ ली थी, जिससे पानी कीचड़ आदि सभी से बच गया।

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्यां खोड़।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालें मोड़ ॥११॥

कबीर कहते हैं, यह भगवान की कृपा थी, जिसने मेरे समस्त संशय को छिन्न-भिन्न कर दिया। अब वे दिन मुझे दुखदायक प्रतीत होते हैं, जिनमें मैं प्रभु की भक्ति नहीं कर सका था।

कबीर जाचण जाइ था, आगै मिल्या अजंच।
ले चाल्या घर आपणैं, भारी पाया संच ॥१२॥

कबीर कहते हैं, मैं याचना करने निकला था कि आगे मार्ग में मुझे किसी से याचना न करने वाले प्रभु मिल गये। वे मुझे अपने घर लिवा गये और मुझे परम सुख प्राप्त हुआ।

५१-दया निरबैरता कौ अंग

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझैं जल थल झोल ।
बस नाहीं गोपाल सौं, बिनसै रतन अमोल ॥१॥

कबीर कहते हैं, संसार रूपी सरिता जल रही है । उसके जल (सरस स्थान) थल (शुष्क स्थान) झोल (धूलि) आदि सब जल रहे हैं । गोपाल से किसी का वश नहीं चलता—कर्म का विपाक अटल है; तभी तो अमूल्य रत्न जैसे पदार्थ नष्ट हुए जाते हैं ।

ऊनमि बिआई बादली, बर्सण लगे अंगार ।
उठि कबीरा धाह दै, दाझत है संसार ॥२॥

कर्म का विपाक तो देखो, बादल उमड़ कर चू पड़े, पर उनसे जल के स्थान पर अंगारों की वर्षा होने लगी । अरे कबीर ! रुदन करता हुआ उठ, देख, संसार जल रहा है ।

दाध बली तैं सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ ।
जहां कबीरा पग धरैं, तहां टुक धीरज होइ ॥३॥

इस बलवती अग्नि से सब दुखी हो रहे हैं, कोई भी सुखी दिखाई नहीं देता । कबीर जहाँ पहुँच जाते हैं, वहाँ कुछ सान्त्वना अवश्य मिल जाती है ।

५२-सुन्दरि कौ अंग

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजांण ।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण ॥१॥

सुन्दरी (आत्मा) कहती है कि हे चतुर कन्त (स्वामी) सुनो । तुम शीघ्र आकर मुझसे मिलो, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगी ।

कबीर जे कोइ सुन्दरी, जांणि करै विभिचार ।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरुष भरतार ॥२॥

कबीर कहते हैं, जो कोई सुन्दरी स्त्री जान बूझ कर व्यभिचार करती है; प्रेम-पुरुष भर्ता (स्वामी) उसका कभी आदर नहीं करता ।

जे सुन्दरि सांई भजै, तजै आन की आस ।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छांड़ै पास ॥३॥

जो सुन्दरी (स्त्री) अन्य सब की आशा छोड़ कर अपने स्वामी की सेवा करती है, उसे स्वामी कभी नहीं छोड़ता और पल भर के लिये भी उसके पास से नहीं हटता ।

इस मन कौं मैदा करौं, नान्हां करि करि पीसि ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीसि ॥४॥

जब सुन्दरी (आत्मा) महीन पीस-पीस कर इस मन को मैदा के समान सूक्ष्म बना लेती है, तभी वह सुख प्राप्त करती है । और तभी ब्रह्म की ज्योति उसके शिर पर झलकने लगती है ।

दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ ॥५॥

नदी के उस पार स्वामी ने ऊँचे पर झूला डाल रखा है । वही सुलक्षणा स्त्री है, जो वहाँ प्रतिदिन झूलने जाती है ।

५३—कस्तूरिया मृग कौ अंग

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढ़ै बन मांहिं ।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नांहि ॥१॥

कस्तूरी मृग की कुंडली (नाभि) में ही रहती है, परन्तु मृग उसे बन अन्दर खोजता फिरता है । इसी प्रकार ईश्वर घट-घट में रम रहे हैं, पर दुनिय उन्हें नहीं देख पाती ।

कोइ एक देखै संत जन, जाके पांचूं हाथि ।
जाके पांचूं वस नहीं, ता हरि संग न साथि ॥२॥

कोई विरला सन्त साधक ही, जिसके वश में पाँचों ज्ञान और कर्म की इन्द्रियाँ रहती हैं, प्रभु को देख सकता है । परन्तु जो इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रखता, प्रभु उसके साथ में नहीं रहते ।

सो सांईं तन में वसै, भ्रंम्यौं न जाणैं तास ।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास ॥३॥

वह प्रभु शरीर के अंदर विद्यमान है । इधर-उधर चक्कर काटने वाला मनुष्य उसे नहीं जान पाता । वह तो कस्तूरी मृग की भाँति घूम-घूम कर घास को सूँघता फिरता है ।

कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघलदीप ।
रांम तौ घटि भीतरि रंमि रह्या, जौ आवै परतीत ॥४॥

कबीर कहते हैं कि राम की खोज करने वाला यदि सिंहलद्वीप में जाता है, तो उससे क्या होगा । राम तो हृदय के अन्दर ही रम रहे हैं, केवल इस तथ्य पर विश्वास लाने की आवश्यकता है ।

घटि बढ़ि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि ।
जिनि जांन्याँ तिनि निकटि है, दूरि कहैं ते दूरि ॥५॥

ईश्वर कहीं भी न कम है, न अधिक । वह तो इस ब्रह्माण्ड भर में सम रूप से परिपूर्ण हो रहा है । जिन्होंने उसे जान लिया, उनके तो समीप ही है; पर जो उसे दूर बताते हैं, वे उससे दूर ही रहते हैं ।

मैं जांण्याँ हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भरपूरि ।
आप पिछांणैं बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ॥६॥

मैं समझता था, प्रभु दूर है; पर वह तो सब में ओतप्रोत हो रहा है। हाँ, ह अपनी पहिचान से बाहर है और निकट होता हुआ भी दूर है।

तिणकैं ओल्है राम हैं, परवत मेरे भाँइ।
सतगुरु मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहिं ॥७॥

राम तिनके की ओट में हैं, पर मैं तिनके को ही पर्वत समझ बैठा था। जब सद्गुरु से मिलकर परिचय हुआ, तो मुझे हरि अपने घट के अंदर ही प्राप्त हो गये।

रांम नाँम तिहुँ लोक मैं, सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि ॥८॥

ईश्वर नाम रूप से तीनों लोकों में सबके अंदर समाया हुआ है। जो उसे दूर-दूर खोजते हुए घूम रहे हैं, उनकी चतुरता को जल जाना चाहिये।

ज्यूं नैनूं मैं पुतली, त्यूं खालिक घट माँहिं।
मूरिख लोग न जाणहीं, बाहरि ढूँढण जांहिं ॥९॥

जैसे नेत्रों में पुतली रहती है, वैसे ही वह मालिक शरीर और ब्रह्माण्ड के अन्दर है। मूर्ख लोग इसे न समझ कर बाहर ढूँढ़ने के लिये जाते हैं।

५४-निंद्या कौ अंग

लोग विचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन।
रांम नांव राता रहै, तिनहुँ न भावै आंन ॥१॥

जिन पुरुषों को ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, वे ही दूसरों की निंदा करते हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि जो प्राणी राम नाम के जाप में निरत हैं, उनको भी दूसरे प्राणी अच्छे नहीं लगते।

दोख पराये देखि कर, चल्या हसंत हसंत।
अपनैं च्यंति न आवइ, जिनकी आदि न अन्त ॥२॥

मानव दूसरे व्याक्त... हँसता-हँसता जाता परन्तु अपने दोषों पर विचार नहीं करता जिन... न आदि है न अन्त—अर्थ जो अगणित हैं।

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन साबंण पाणीं बिना; निरमल करै सुभाइ ॥३॥

आँगन में कुटी बनवाकर अपने निन्दक को अपने निकट ही रखना चाहिये, क्योंकि वह बिना साबुन और पानी के हमारे स्वभाव को निर्मल कर देता है।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मांन !
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहि आंन ॥४॥

निंदा करने वाले को दूर मत करो, उसे आदर और सम्मान दो, क्योंकि वह मिथ्या बकवाद करके हमारे शरीर और मन सब को निर्मल कर देता है।

जे को नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ।
नरक मांहिं जांमें मरै, मुकति न कबहूं होइ ॥५॥

जो साधु की निंदा करता है, वह संकट में फँसता है और नरक में गिरता है, जहाँ मरण ही मरण है। उसकी मुक्ति कभी नहीं होती।

कबीर घास न नींदिए, जो पाऊं तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि मैं, खरा दुहेला होइ ॥६॥

कबीर कहते हैं, उस घास की निंदा मत करो, जो पैरों के नीचे पड़ती है, क्योंकि यदि वह उड़ कर आँख में पड़ गई, तो बड़ा कष्ट देती है।

आपन यौं न सराहिये, और न कहिये रंक।
नां जांणौं किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक ॥७॥

अपनी प्रशंसा न करो और रंक कह कर दूसरे की निंदा मत करो। मालूम नहीं, किस वृक्ष के नीचे पड़े हुए कूड़े में सोना छिपा पड़ा हो।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ॥८॥

दूर है; पर वह तो सब में ओतप्रोत हो रहा है। हाँ कबी[illegible]हते हैं, स्व[illegible] है और निकट होता हुआ भी [illegible]। स्वयं ठग [illegible] से सुख उत्पन्न होता है, [illegible] से दुख होता है।

अब कै जे साईं मिलैं, तौं सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूं जु कहणां होइ ॥९॥

अब की बार यदि स्वामी मिलें, तो रो-रोकर अपना सब दुख उनके सामने निवेदन कर दूँ और उनके चरणों पर शिर रख कर जो कहना है, सब कह डालूँ।

५५-निगुणाँ कौ अंग

हरिया जांणैं रूंषडां, उस पाणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, कबहूं बूठा मेह ॥१॥

पानी के स्नेह को हरा वृक्ष ही जान सकता है। शुष्क काठ क्या जाने कि कब पानी बरसा। रूंषड़ा = वृक्ष। सूका=शुष्क। बूठा = बरसा।

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पांहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पांहण बोही तेह ॥२॥

बादल पत्थर के ऊपर भिर-मिर करते हुए बरसने लगे, जिससे मिट्टी तो गल कर सजल हो गई, पर पत्थर वैसा का वैसा ही बना रहा।

पार ब्रह्म बूठा मोतियां, घड़ बांधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया, चूँक पड़ी निगुरांह ॥३॥

परब्रह्म परमात्मा ने मोतियों की वर्षा की और शिखर के ऊपर झड़ी बांध दी—मूसलाधार वर्षा हुई। जिन्होंने गुरु को अपना पथ-प्रदर्शक चुना था, उन्होंने तो उन मोतियों को चुन लिया, परन्तु जो निगुरे अर्थात् गुरु-विहीन थे, वे मोतियों को चुनने में चूक गये।

कबीर हरि रस बरसिया, गिरि डूंगर सिषरांह।
नीर निवांणां ठाहरैं, ना ऊंछा परडांह ॥४॥